

रामचरित्र मानस में तुलसी की काव्य कला

भारतीय संस्कृति के उन्नायक महाकवि तुलसी दास का अबतक कोई प्रामाणिक जीवनचरित प्रस्तुत नहीं हो सका है। इनका जन्म संवत् १५८९ में हुआ माना जाता है। तुलसी के जन्मस्थान के विषय में भी निम्नलिखित मत प्रचालित हैं -

- १) उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले का राजापुर ग्राम।
- २) एटा का सीरों नामक स्थान।
- ३) गोंडा जिले का ताराह क्षेत्र।

सर्वाधिक मान्यता राजापुर ग्राम के पक्ष में है। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न तुलसीदास अपने शैशव में ही अपने माता-पित के संरक्षण से वंचित हो गए थे। तुलसी को सौभाग्य से स्वामी नरहरिदास जैसे गुरु प्राप्त हो गया। इन्हीं की कृपा से तुलसीदास को वेद, पुराण और अन्य शास्त्रों के अध्ययन और अनुशीलन का अवसर मिला। कुछ समय के पश्चात तुलसीदास स्वामीजी के साथ काशी आ गए, जहाँ स्वामीजी ने इन्हें वेद-वदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि में निष्णात बना दिया।

तुलसी के इष्टदेव राम थे - “तुलसी चाहत जनम मरि रामचरन अनुराग” यही उनके जीवन का परम आदर्श था। राम के प्रति इनकी अटूट भक्ति भावना की अभिव्यक्ति इनके संपूर्ण काव्य ग्रंथों का विषय है।

रामचरित मानस तुलसीदास का सर्वाधिक लोकप्रिय महाकाव्य है। भाषा, भाव, उद्देश्य, कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, प्रकृति वर्णन, सभी दृष्टियों से हिंदी साहित्य का यह अद्वितीय ग्रंथ है। इसमें तुलसी के भक्त-रूप और कविरूप का चरम उत्कर्ष है।

काव्य के उद्देश्य के संबंध में तुलसी का दृष्टिकोण सर्वथा सामाजिक था। इनके मत में वही कीर्ति, कविता और सम्पत्ति है जो गंगा के समान सब का हित करने वाली हो - “कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई।” सामाजिक एवं परिवारिक जीवन का उच्चतम आदर्श जनमानस के समक्ष रखना ही इनका काव्यादर्श था। जीवन के मार्मिक स्थलों की इनको अद्भूत पहचान थी। तुलसीदास ने राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य और रूप की अवतारणा की है। इनका संपूर्ण काव्य समन्वयवाद की विराट चेष्टा है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का राजपथ ही इन्हें अधिक रुचिकर लगा है।

काव्य-कला के क्षेत्र में तुलसी का दृष्टिकोण जीवनवादी था। वे कला के लिए कला नामक सिद्धांत के समर्थक नहीं थे। वे कला को साधक मानते थे साध्य नहीं। उनका साध्य तो राम-भक्ति है जो धर्म की रसात्मक अनुभूति है, जो जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाली है, जिसमें लोक-धर्म, व्यक्ति-धर्म, शील, शक्ति तथा सौंदर्य एवं प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का समन्वय है। और उस भक्ति के आलम्बन राम लोक-रक्षा, लोक-रंजन, लोक मंगल आदि लोक-धर्म संबंधी सभी वृत्तियों के चरम विकसित रूप है। वे काव्य में उपयोगितावादी सिद्धांत के अनुयायी हैं। इसलिए वे कविता की सार्थकता सुरसरि के समान सबका हित करने में, गंगा-जल के समान जीवन को स्वच्छ तथा निर्मल बनाने में प्रथा अत्नतागत्वा मोक्ष दिलाने में गंगा की उर्वश मिट्टी के

समान मानव जीवन को सार्जना शील तथा उत्पादनशील बनाने में गंगाजल के स्नानानन्तर उसके जीवन को उदात्त तथा मलरहित बनाने में मानते हैं। इस कारण वे स्थान-स्थान पर अपनी कविता को स्पष्ट शब्दों में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष-प्रदायिनी, कलिकलुष विभंजिनी, सुरुचि संपादनी, सकल सुमंगलदायिनी, सुजन मन भावनी, बुध विश्राम सकल जन रंजिनी, भव-पाश विनाशिनी, सुख-सम्पत्तिदायिनी कहते हैं। उन्होंने अपनी काव्य-कला में वर्ण्य या विषय को प्राथमिक महत्त्व दिया है। कला या शैली पक्ष को उसकी तुलना में गौण स्थान दिया है। वे जीवन में उदात्तता, महत्ता, भव्यता, शक्ति, शील तथा सौंदर्य की प्रेरणा देने के लिए कविता या कला का विषय बहुत ही उदात्त या महान, सुंदरतम, चरम शक्तिमान तथा चरम चरित्रवान मानते थे।

उनकी काव्य-कला का वर्ण्य राम का चरित्र है जो मानवता के परिपूर्ण विकास तथा मानव की असीम संभावनाओं का प्रतीक है। राम के चरित्र के माध्यम से उन्होंने मानव जीवन के जिस चरम सौंदर्य, चरम शक्ति, चरमशील, परम सत्य, परमोच्च चेतना, परम आनंद, उच्चतम वास्तविकता, असंभवनीय संभावना का दर्शन किया है उसका प्रत्यक्षीकरण कराना ही उनकी कला का प्रमुख उद्देश्य है। काव्य-कला में तुलसी की सहज प्रवृत्ति 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूः' तथा कवयःमंत्रद्रष्टारः के समान अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कराने की है। इसीलिए उन्होंने अपनी काव्य-कृतियों के माध्यम से जिस अगम रूप अनुभवैकगम्य भाव तथा अतीन्द्रिय वस्तु को अपनी कला के माध्यम से व्यंजित किया उसे हम निराकार, अतीन्द्रिय, अगम, अगोचर, अकल, अनीह अज आदि की संज्ञा देते हैं।

तुलसी की काव्य कला में रूप, वस्तु तथा भाव तीनों का समन्वय है। इनके महाकाव्य, प्रगती काव्य तथा मुक्तक काव्य के रूपों का विधान इतना कलात्मक हुआ है कि हिंदी में अब तक मानस के समान महाकाव्य, विनय-पत्रिका के समान गीति-काव्य तथा कवितावली एवं गीतावली के समान मुक्तक काव्य निर्मित नहीं हो सके। मानस में काव्य-कला के विविध उपादानों अक्षर, अर्थ अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि, भाव, छंद, भाषा आदि का जैसा औचित्यपूर्ण संश्लेषण, कथा, संविधान तथा चरित्र-चित्रण के साथ हुआ है वैसा कदाचित् ही विश्व के किसी काव्य में मिले।

गोस्वीमी जी घटनाओं में चित्रात्मकता, पृष्ठभूमि में चित्रात्मकता, भाव-चित्रण में रूपकात्मकता तथा पात्रों के रूप-वर्णन में आदर्श चित्र खड़ाकर अपनी काव्य-कला की रूपकात्मकता को बहुत ही रमणीय बना देते हैं। राम के वन गमन की घटना उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। इसमें रूप, वस्तु तथा भाव तीनों की चित्रात्मकता वर्तमान है :

“भुख सुखाहि लोचन स्त्रवहिं, सोक न हृदय समाई।

मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥

अपने चरित्र-स्खलन के कारण मुनि के शापवश पाषाणवत् शरीर धारण किए अहल्या के चित्र के पूर्व उसकी पृष्ठ-भूमि एक पंक्ति में ही व्यंजनात्मक पद्धति द्वारा चित्रित की गई है :

आश्रम एक दीख मग माहीं।

खग मृग जीव जंतु तह नाहीं ॥

पूछा मुनिहिं शिला प्रभु देखी।

सकल कथा मुनि कहा विसेखी ॥

जिस व्यक्ति का चरित्र पाषाणवत् हो जाता है उसका सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वह महास्वार्थी बन जाता है। उसका जीवन त्यागरहित दिखाई पड़ता है, वह प्रेम करना मानों भूल जाता है। अहल्या के साथ भी यही बात है। वह पाषाणवत् हो गई है, इसलिए वह किसी जीव-जंतु को प्यार नहीं करती। वह किसी के लिए कुछ त्याग नहीं करती। वह एकांतिक स्वार्थ के भीतर सीमित हो गई है। इसीलिए खग-मृग-जीव-जंतु उसके पास नहीं जाते।

राम के वन-गमन के बाद अयोध्यापुरी में शोक का सजीव चित्र भरत के ननिहाल आने के बाद दिखाई दे रहा है। कवि उस मार्मिक चित्र को नीचे की पंक्तियों द्वारा कितने कलात्मक ढंग से नरूपित कर रहा है उसे उसी के शब्दों में देखिए :

लागति अवध भयावनि भारी।
 मानहु काल राति अँधियारी ॥
 घर मसान परिजन् जनु भूता।
 सुत हित मीत मनहुँ जमदूता ॥
 बागन बिटप बेलि कुमिलाहीं।
 सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥
 राम वियोग विकल सब ठाढ़े।
 जँह तहँ मनो चित्र लिखि काढ़े ॥

तुलसीदास जी ने अपने महाकाव्य, गीति काव्य तथा मुक्तक काव्य में मानव जीवन की नाना परिस्थितियों, प्रकृति के बाह्य दृश्यों, मानव जीवन की नाना वस्तुओं को इस रमणीय तथा सूक्ष्म निरीक्षण के साथ अंकित किया है कि श्रोता या पाठक का अतःकरण उसका पूरा बिम्ब ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। चित्रकूट का बिम्बात्मक वर्णन उदाहरण स्वरूप देखिए :

फटिक-सिला मृदु विसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
 ललित लता जाल हरित छवि वितान की।
 मंदाकिनी-तटनि-तीर, मंजुल-मृग विहग भीर,
 धीर मुनि गिरा गंभीर साम गान की ॥,
 मधुकर पिक बरहिँ मुखर, सुंदर गिर निरझर-झर,
 जल-कन, दन दँह, दन प्रभा न भान की।
 सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, सन्तत बहै त्रिबिध बाउ,
 जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की ॥

तुलसीदास जी के मानस में मानव जीवन की जितनी अधिक परिस्थितियों तथा मानव भावों का जो रमणीयात्मक सजीव वर्णन किया है कदाचित् वैसा अन्यत्र किसीकवि में नहीं मिलता। तुलसी ने अपने महाकाव्य के भीतर मानव जीवन की प्रायः सभी परिस्थितियों में अपने को डालकर उनका सजीव अनुभव कर उनका बिम्बात्मक चित्र उपस्थित कर अपनी सर्वांगपूर्ण भावुकता का परिचय दिया है। मानव के विकास के लिए जिन मूलतत्त्वों को जीवन का मंथन करके नवनीत रूप में तुलसी दास ने निकाला है वे हैं सत्य और प्रेम।

उनकी काव्यकला की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापकता, गंभीरता तथा मार्मिकता है। उनकी काव्य-कला की व्याप्ति इतनी विस्तृत है कि वह सामाजिक जीवन के सभी पक्षों - वर्ण, आश्रम, जाति, धार्मिक जीवन के विभिन्न पहलुओं ज्ञान, कर्म, उपासना, निवृत्ति की समस्या, स्वर्ग नर्क की कल्पना, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि की धारणा, अध्यात्मिक जीवन के विभिन्न तत्त्वों - ब्रह्म, जीव, माया, प्रकृति, पुरुष चतुर्वर्ग की कल्पना, अवतारवाद, निर्गुण-सगुण का स्वरूप पारिवारिक जीवन के विभिन्न संबंधों - माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, सास-पुत्र वधू आदि का चित्रण, सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों-रीति-रिवाज, उत्सव-पर्व, तीर्थ आश्रम, सभा दरबार, जातीय विश्वास, जातीय मूल्यों आदि का चित्रण, राजनीतिक जीवन के विभिन्न तत्त्वों - राजाप्रजा का संबंध, उनके पारस्परिक कर्तव्य, सुराज तथा स्वराज्य आदर्श, आदर्श राजा, तत्कालीन नाना समस्याओं के निरूपण के साथ-साथ कविता के नाना तत्त्वों-अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि, रस सब को समानुपातिक रूप में अपने भीतर समाविष्ट किए हुए हैं।

मानस महाकाव्य के किसी भी तत्व में अतिरेकता नहीं है। इसमें काव्य के सभी गुण तथा तत्व संतुलित रूप में रखे गए हैं। वस्तु का विन्यास महाकाव्य में लोक-प्रकृति के अनुकूल किया गया है, पात्रों का चरित्र-चित्रण उनके वंश तथा स्वभाव के अनुसार किया गया है।

श्रृंगार का मर्यादित रूप वही कवि प्रस्तुत कर सकता है जिसकी रुचि बड़ी परिष्कृत तथा उदान्त हो। तुलसीदास जी सर्वत्र श्रृंगार को मर्यादित रूप देने में सफल दिखाई देते हैं। उनके राम पुष्प-वाटिका में सीता के कंकन, किंकिणि तथा नूपुरों की ध्वनि सुनकर अपने हृदय में सीता के प्रति उत्पन्न हुए प्रेम को लक्ष्मण से कहते हैं। कुछ क्षण के लिए उनका मन काम-भावना से पराभूत हो जाता है किंतु तुरंत वे अपने कुल की मर्यादा का स्मरण कर अपनी श्रृंगारिक भावना को मर्यादित कर लेते हैं।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
 कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
 मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं ।
 मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही ।।
 अस कहि फिर चितए तेहि ओरा ।
 सिय भुख ससि भए नयन चकोरा ।।
 भयउ विलोचन चारु अचंचल ।
 मनहु सकुचि निमि तजे दृगंचल ।।
 रघुवंसिन कर सहज सुभाऊ ।
 मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ ।।
 मोहिं अतिसय प्रतीति मन करी ।
 जेहिं सपने हूँ परनारि न हेरी ।।

मानस में निरूपित उदात्त जीवन-मूल्य शील के विकास द्वारा न से नारायण बनने की चरितार्थता में है। सीता का जीवन नारी के रूप में तप, त्याग, प्रेम संयम तथा सत्य को अपनाकर सृष्टि के उद्भव, स्थिति, संहारकारिणी, सर्वश्रेयकरी के रूप में परिणत हो जाता है। राम के

आचरण में मानवता के सभी उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है। मानस महाकाव्य का लक्ष्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति कराना माना गया है।

तुलसीदास जी काव्य-कला के क्षेत्र में वस्तुवादी हैं। किंतु वस्तुवादी होते हुए भी उनकी काव्य-कला के प्रत्येक तत्व में उनका व्यक्तित्व झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। चाहे जिस स्थल को लीजिए, जिस तत्व को लीजिए, जिस पात्र को लीजिए सभी में तुलसी की निजी धारणा, निजी सिद्धांत तथा मौलिकता की छाप है। तुलसी की कथावस्तु तथा विषय-तत्व, नाना पुराणों, आगमों, निगमों तथा संस्कृत काव्य-ग्रन्थों से लिया गया है। पर इन सामाग्रियों को लेकर उन्होंने अपने महाकाव्य, गीतिकाव्य तथा मुक्तक काव्यों को जो सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया है वह सब प्रकार से प्रशंसनीय है। मानस में गोस्वामी जी ने पुराण, नाटक और महाकाव्य तीनों की शैली और विशेषताओं का समन्वय कर दिया है। कहीं पर उनकी शैली पौराणिक कहीं पर नाटकीय और कहीं पर महाकाव्यात्मक औदात्य लिए हुए हैं। इसका आरंभ पुराण के समान है, तदनंतर पुष्प-वाटिका तथा धनुष-यज्ञ का प्रसंग नाटकीय है। चार-चार कथा संवादों का एक साथ संगठन हुआ है।

रामचरित मानस में प्रतिष्ठित राम तथा सीता का स्वरूप तुलसी की प्रतिभा का संस्पर्श पाकर अद्वितीय तथा अनुपम आभा से मंडित हो गया है। यद्यपि तुलसी ने अपने नायक-नायिका के चरित्र के विभिन्न तत्वों को अपने पूर्ववर्ती अनेक स्रोत-ग्रंथों से लिया है पर इन तत्वों को अपने निजी दर्शन तथा निजी सामाजिक सिद्धांतों में ढालकर राम को पूर्ण पुरुष काही नहीं, पूर्ण ब्रह्म का भी रूप प्रदान किया तथा सीता को उद्भवस्थिति संहारकारिणी तथा सर्वश्रेयस्करी शक्ति के रूप में रखा।

तुलसीदास की भक्ति का स्वरूप भी लोक-मंगल से समाविष्ट हैं। दूसरे वे भक्ति को एक रस के रूप में देखते हैं। इसके पहले के दार्शनिकों ने भक्ति को साधना की वैयक्तिक भूमिका पर ही प्रतिष्ठित किया था तथा इसका समावेश शांतरस के भीतर करके इसका स्थायी भाव वैराग्य माना था, किंतु तुलसीदास जी ने भक्ति को स्वतंत्र्य रस मानकर उसे धर्म की रसात्मक अनुभूति घोषित कर उसे लोकमंगल की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया तथा उसका स्थायी भाव लोक प्रेम ही माना है।

तुलसी का मर्यादावाद केवल समाज की पुरानी रीतियों, रुढ़ियों, परंपराओं पर ही अवलंबित नहीं है, वरन् वह प्रेम, त्याग तथा सामाजिक विकास व्यवस्था पर प्रतिष्ठित है। उनके मर्यादावाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं है। वे व्यक्ति के आचरण की इतनी ही मर्यादा चाहते हैं, जितने से वह दूसरों के जीवन मार्ग में बाधक न हो सके तथा पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों की रक्षा तथा निर्वाह के अनुकूल मन, वचन एवं कर्म की व्यवस्था कर सके। इस प्रकार तुलसी के मर्यादावाद में समाज तथा व्यक्ति दोनों के विकास का समन्वय है और यह तुलसी के मर्यादावाद की मौलिकता है।

तुलसी का स्पष्ट संकेत है कि काव्य-कला की शोभा तथा सार्थकता सद्दय पाठक के हृदय में शोभा की वस्तु बनने में है अर्थात् कविता इतनी प्रभावशाली हो कि वह प्रबुद्ध सद्दयों तथा सज्जनों के हृदय में शोभा, अनुराग तथा सम्मान की वस्तु बन जाने की क्षमता रखती हो

तैसहिं सुकवि कबित बुध कहहीं।

उपजहिं अनत अनत छबि लहरीं।।

तुलसी की काव्य-कला की प्रभावोत्पादकता का विश्लेषण करें तो हमें उसके कई कारण तथा आधार दिखलाई पड़ते हैं। तुलसी की काव्य-कला की प्रभावोत्पादकता का कारण उनकी अनुभूति की सच्चाई है, काव्य-कला तथा जीवन की सच्ची साधना है। उन्होंने अनन्य निष्ठा से रामचरित का दर्शन करके अनुभव करके उसे काव्य-कला के माध्यम से व्यक्त किया है। वास्तव में काव्य-कला की साधना व्यक्ति जीवन से विश्व जीवन की ओर ले जाने वाली एक महायात्रा है।

तुलसी की काव्य भाषा :

तुलसी की काव्य भाषा संबंधी विशेषताओं के उद्घाटन के पूर्व तत्संबंधी उनके सिद्धांत को जानना आवश्यक है। तुलसीदास जी का काव्य-भाषा के विषय में सर्वप्रमुख सिद्धांत सरलता का या क्योंकि वे कविता का सबसे मुख्य प्रयोजन लोकमंगल मानते थे। वे यह चाहते थे कि उनकी कविता से अधिक से अधिक लोग लाभ उठा सकें। उस समय भाषा में लिखना अपने को हास्यास्पद बनाना था, इस तथ्य से अवगत होते हुए भी उन्होंने भाषा में कविता इसलिए की क्योंकि भाषा काव्य के माध्यम से ही वे राम को जनता तक पहुँचाने में समर्थ हो सकते थे। इसी कारण उन्होंने अपनी कुछ रचनाओं जैसे, कवितावली, गीतावली, विनय पत्रिका को ब्रजभाषा में लिखा और, महाकाव्य को अवधी भाषा में लिखा। पार्वती मंगल, जानकी मंगल तथा रामलला नहदू में जनता में प्रचलित पूरबी अवधी का प्रयोग किया। उनकी कविता का उद्देश्य 'बहुजन हिताय' ही नहीं 'सर्वजनहिताय' था। और यह महान उद्देश्य भाषा में ही लिखने से संपादित हो सकता था।

कीरति भनिति भूति भलि सोई।

सुरसरि सम सबकर हित होई।।

भाषा संबंधी उपयोगितावादियों की तरह उनका सिद्धांत निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है :

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए सांच।

काम जो आवै कामरी, काली करै कवांच।।

वे कविता की कसौटियों में एक बहुत बड़ी कसौटी भाषा की सरलता मानते हैं। इसलिए उन्होंने संस्कृत भाषा पर पूर्णतम अधिकार रखते हुए भी जनता की भाषा को अपनी काव्य-भाषा का माध्यम बनाया और स्पष्ट घोषित भी किया कि भाषा में मैं इसलिए रचना कर रहा हूँ कि भाषा के माध्यम से कविता लिखने में मुझे संतोष हो रहा है।

भाषा बद्ध करब मैं सोई। भोरे मन प्रबोध जेहि होई।।

वे भारतीय संस्कृति के ज्ञान को उसके उच्चतम मूल्यों को, उसके सर्वोत्तम चिंतन को रामचरित मानस के माध्यम से जनता में भारतीय संस्कृति के प्रसार द्वारा उसके कल्याण का कामना में विश्वास रखते थे। अर्थात् भाषा में लिखने का मूल कारण लोक मंगल, लोकहित सम्पादन ही है जो उनके जीवन का परम सुख तथा उनके काव्य का परमश्रेष्ठ प्रयोजन था।

रामचरित मानस में काव्य-अलंकार:

तुलसी की काव्यरचना में अलंकारों का प्रयोग नैसर्गिक रूप में हुआ है। अलंकार की नियोजन इनकी रचनाओं में सर्वत्र वर्ण्य के अनुरूप हुई है। प्रायः सभी अलंकारों का प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है। शब्दालंकारों का प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है। शब्दालंकारों में उन्होने

अनुप्रास का सबसे अधिक प्रयोग किया है, पर वे काव्य-रचना के प्रवाह में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं भी उनके प्रयोग में प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। वर्णनात्मक, विचारात्मक सभी स्थलों पर अनुप्राप्त की छटा दर्शनीय है। जिस कलात्मक ढंग से उन्होंने अनुप्रास का प्रयोग किया है उससे एक ओर वर्ण-मैत्री, ध्वनि मैत्री तथा शब्द मैत्री से भाषा में श्रुति सुखदत्ता, कोमलता, चित्रात्मकता तथा रमणीयता का संचार होता है और साथ ही तीसरी ओर भाषा बहुत ही प्रभविष्णु, सुंदर, स्पष्ट तथा चित्रात्मक बन जाती है।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।

उपर्युक्त उदर्धाली में 'न' वर्ण की आवृत्ति अन्य वर्णों के सामंजस्य के साथ इस प्रकार हुई है कि इस चौपाई के वर्णोंद्वारा नूपुरों की जैसी ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। तुलसी राम के अनन्य उपासक हैं। अतः उनकी अद्वितीयता बताने के लिए उन्होंने उनके तथा उनसे संबंधि भरत, जनक, दशरथ आदि पात्रों के वर्णनों में उनन्वय अलंकारों का प्रयोग किया है।

निरूपम न उपमा जान राम समान राम निगम कहैं।
निरवधि गुन निरूपम पुरुष, भरत भरत सम आन।।

सादृश्य पर आश्रित अन्य अलंकारों - जैसे, स्मरण, परिणाम, संदेह, भ्रांति, अपहनुति, अतिशयोक्ति का प्रयोग बहुत ही कलात्मक ढंग से नैसर्गिक रूप में तुलसी की कृतियों में पाया जाता है।

उपसंहार :

तुलसीदास के रामचरित मानस में काव्य दर्शन संबंधी इतनी अधिक उक्तियाँ-श्लोकों, दोहों और चौ पाइयों आदि के रूप में मिलती हैं कि उनसे यह स्पष्ट जात हो जाता है कि काव्य-सर्जना आरंभ करने के पूर्ण वे कविता कामिनी का सम्यक् दर्शन करने में समर्थ हो चुके थे। उन्होंने अपनी काव्य-रचना का एक विशिष्ट आदर्श अपने समक्ष रखा था जो अपने में इतना पवित्रतम, महत्त्वम और उदात्ततम है कि उसकी तुलना का दूसरा महान आदर्श संसार के किसी अन्य कवि में खोजने पर भी नहीं मिलेगा। किसी ने ठीक ही लिखा है -

राम रसायन की रसना,
रसना रसिकों की भयी सफला।।
अवगाहन मानस में करके,
जनमानस का मल सारा टला।।
कविता करके तुलसी न लसै,
कविता लसिपा तुलसी की कला।।



संत कबीरदास

१. कबीर : वाणी के डिक्टेटर:

मध्यकालीन साधना और चिंतन मुख्य प्रवशद्वार कबीर का व्यक्तित्व और उनकी वाणी है, जिसे हम मध्यकालीन साधना के नाम से अभिहित करते हैं। कबीर जैसे निर्भीक और अपूर्ण साधक की वाणी का वरदान पाकर ही शैशव की तुतलाहट में हिंदी में जो निखार, ओज आत्मविश्वास और गहन आत्मतल्लीनता देखने को मिलती है, वह आज तक के काल की लंबी अवधि के अजस्र प्रवाह के परावर से क्षीण न होकर अधिक उज्ज्वल और उर्जस्वित हुई है। मध्यकालीन संतों की वाणी के पारावर से क्षीण न होकर अधिक उज्ज्वल और उर्जस्वित हुई है। मध्यकालीन संतों की वाणी में निर्भीकता, खरापन और सच्चाई का विशेष और स्पष्ट दर्शन प्रेक्षणीय है। कबीर तथा मध्यकालीन संतों की वाणी की इसी महिमा के कारण उनकी वाणी में हिंदू और मुसलमान दोनों की ही अंध-रुढ़ियों, बाह्याचारों और गतानुगतिकता के प्रति आक्रोश और कठोर विरोध रहते हुए भी, दोनों ने ही अंत में उन्हें अपनाया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने कबीर को धर्म गुरु के रूप में देखा था। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद होना चाहिए, परंतु विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य में तो उसे आस्वादन करने की प्रथा ही चल पड़ी है। समाज-सुधार के रूप में, सर्वधर्म समन्वयकारी के रूप में, विशेष संप्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदांत व्यायाता दार्शनिक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो कबीर-काव्य पग-पग पर प्रशंसा से पेर हैं किंतु इसमें उनकी वाणी और भाषा का भी कम योगदान नहीं है।

उनकी भाषा के संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का निम्नलिखित उद्धरण विवेच्य है - “भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया - बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नहीं कर सके।” अकह कहानी को रूप देकर मनोहारी बना देने की तो जैसी फरमाइश को नहीं कर सके।” अकह कहानी को रूप देकर मनोहारी बना देने की तो जैसी हिम्मत और ताकत इस फक्कड़ की भाषा में है वैसी बहुत कम सर्जकों में पाई जाती है। हिम्मत और ताकत इस फक्कड़ की भाषा में है वैसी बहुत कम सर्जकों में पाई जाती है।

कबीर तो परम सावधानी के साथ पाठक को शब्दों की संकीर्ण अर्थवत्ता की याद दिला देते हैं -

हद में रहै सो मानव बेहद रहै सो साधु।
हद-बेहद दोनों तजै, तिनका मता अगाधु।
हद-बेहद दोनों तजी, अवरन किया मिलान।
कहैं कबीर ता दास पर, बारों सकल जहान।।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'बेहद' शब्द में साधारणतः यह भाव है कि जो हद न हो या हद के विरुद्ध हो। यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है। वस्तुतः सीमा असीम से बाहर भी नहीं है, उसकी विरोधी भी नहीं है, उसका अभाव तो एकदम नहीं। इसलिए बेहदी की प्रीति बताते समय कबीरदास सावधान कर देते हैं। इसे सीमा का विरोधी समझना गलत है। बेहद वह है जो सीमा और सीमा भाव दोनों के परे है, जो हद और गैरहद दोनों के ऊपर है। इस हद-बेहद से अतीत वस्तु को ही भाषा की सीमित शक्ति के कारण कबीरदास बेहद कहते हैं। हद या सीमा में मनुष्य बसते हैं बेहद या सीमाभाव में साधु बसते हैं पर असल संत वह है जो इन दोनों को छोड़ गया है, जो सीमातीत असीम का प्रेमी है।

असीम-अनंत-ब्रह्मानंद में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर पकड़ में न आ सरने वाली ही बात है, पर बेहदी मैदान में रहा कबीरा ने न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्व को मूर्तीमान कर दिया है अपितु अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का आस्वादन कराने वाला समझे तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखते पंडित और काजी अवधू और जोगिया मुल्ला और मौलवी सभी उनके व्यंग से तिलमिला जाते हैं। अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की थी तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

कबीर अत्यंत सीधी सी बात अत्यंत सीधे तौर पर कहते हैं कि सृष्टि के रचयिता भगवान को एक नहीं मानते हो तो दो की कल्पना व्यर्थ है। एक ही परम तत्व को राम और रहीम कह देने से वह दो नहीं हो जाएगा। माला और तसवीह पर जप करने के कारण उपास्य वस्तु भिन्न नहीं हो जाएगी। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि सृष्टि के रचयिता को उपादान करण या निमित्त कारण जो भी कहो, दोनों एक ही बात है, या खुदा को प्रकृति का कारण मानो या प्रकृति के साथ उसका अनिर्वचनीय संबंध मानो दोनों में कोई फर्क नहीं है, या जगत को ब्रह्मा का परिणाम कहो या विवर्त कहो दोनों एक ही बात है इसी तथ्य को कबीर ने झकझोर देने वाली भाषा के सहारे स्पष्ट कर दिया है -

अरे भाइ दोह कहाँ से मोहिं बतावो।

विचिही भरम का भेद लगावो।

जोनि उपाइ रेची द्वे धरनी, दीन एक बीच भई करनी

राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लइ।।

कहै कबीर चते रे भोंदू, बोलनि हारा तरुकन हिंदू।।

सही बात यह है कि नाम के बदलने से कोई वस्तु नहीं बदल जाती। एक समाज का 'भोंदू' मोटे तौर पर जिस परमात्मा की कल्पना करता है वह दूसरे समाज के 'भोंदू' की कल्पना से भिन्न नहीं है। यह कारण है कि कबीरदास ने उसी अंश पर जोर दिया है जो सर्व-साधारण की समझ के भीतर है।

अंततः प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सी वस्तु है जिसने कबीरदास को इतना महिमाशाली

बना दिया है ? अब तक देखा गया है कि कबीर के अधिकांश विचार एक पुरानी दीर्घ परंपरा की देन है। यह असत्य है कि हर कोई बात परंपारित होने के कारण ही हीन हो जाती है - सत्य, दया, करुणा, धर्म आदि बातें अनादि काल से समादृत हैं, फिर भी आज का सत्यवादी दयावान, धर्मशील और करुणाशील व्यक्ति इस परंपरा-विहित महत्व का अधिकारी होने के कारण हीन या कम महत्वपूर्ण नहीं होता अतः कबीरदास ने यदि महादर्श प्राचीन परंपरा से लिया है जो कबीरदास का महत्व कम नहीं होता, क्योंकि कबीरदास का पाठक जानता है कि उनके पदों में से उसे एक कोई अनन्य साधारण बात मिलती है, जो सिद्धों और योगियों की अक्खड़ता भरी उक्तियों में नहीं है, जो वेदान्तियों के तर्क कर्कश ग्रंथों में नहीं है, जो समाज सुधारकों की हाय-हाय में भी नहीं है। इस प्रश्न का एक ही उत्तर है। वह है उनकी वाणी की अपूर्व क्षमता। या बात योगियों के पास नहीं थी, मुल्लाओं और काजियों के पास नहीं थी। इसी अद्भुत रत्न को पाकर कबीर-कबीर हो गए।

हिंदी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसी वाणी और कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में कबीरदास का एक ही प्रतिद्वंद्वी है, तुलसीदास परंतु दोनों की वाणियों में बड़ा अंतर है। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सबकुछ को झाड़ फटकार कर चल देने वाले तेज तथा उनकी घातक वाणी ने कबीर को हिंदी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सबकुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य साधारण रस भर दिया है।

कबीर की वाणी नानुकरणीय है। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता, समूह को भी बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। 'वाणी' के इसी अद्भूत व्यक्तित्व के आकर्षण को सद्दय समालोचक संभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में ही संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को कवि न कहा जाए तो और क्या कहा जाए ? परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कबीर का कवि रूप धलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। काव्यगत रुढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल।

कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कही हैं जिनसे समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है। वस्तुतः वे व्यक्तित्व साधना के प्रचारक थे। ये व्यष्टिवादी थे। सर्वधर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पाई जाती है वह बात है उनकी सटीक वाणी। निम्नलिखित पंक्तियों में कबीर की अतुलनी वाणी का स्पष्ट दर्शन मिलता है -

नाही धर्मी नहीं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो।

ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक स्वामी हो।।

ना मैं बन्धा ना मैं मुक्ता, ना मैं विश्व न रंगी हो।

ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो।।

कबीरदास मूलतः भक्त थे। भगवान पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधारना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास है। वे अपने उपदेश "साधु" भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही संबोधित करके कह देते थे। मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है इसलिए केवल वाणी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो

आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है -- बाई प्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।

प्रेमभक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, दर्शन का अज्ञाता अहंकारी, अगुण-सगुण विवेक अनाभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं। देवता हो या मनुष्य मुनि हो या राह चलता आदमी, पीर हो या औलिया, एक बार प्रियतम के पुकार की चोट खाकर संभलना मुश्किल हो जाता है। कबीरदास गवाह हैं, कि साई के इस रंग का और फिर भी इसका रंग सब रंगों से न्यारा होता है। स्वयं कबीरदास रंग चुके थे। वे इस अकारण प्रेम से घायल हो चुके थे। व्याकुल भाव से सद्गुरु के पास इसका उपाय पूछने गये थे।

सतगुरु हो महाराज, मोपै रंग डरा।
 सब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा।
 औषध मूल कछू नहीं लागै, का करै बेद बेचारा।।
 सुन-नर मुनिजन पीर औलिया, कोई न पावै पारा।
 साहब कबीर सर्व रँग-रँगिया, सब रंग से रंग न्यारा।

कबीरदास साधारण हिन्दू-गृहस्थ पर आक्रमण करते समय लापरवाह होते हैं और इसीलिए लापरवाही भरी एक मुस्कान उनके अधरों पर और लापरवाही भरी एक ध्वनि जिह्वा पर मानो खेलती रहती है। मानों वे इन अदने आदमियों को इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिन पर आक्रमण किया जा सके परन्तु इस लापरवाही के कारण ही इन आक्रमणों में एक सहज भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंग्यों की जान और वाणी की शान तथा व्यक्तित्व की आन है। सच पूछा जाए तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबरदस्त व्यंग लेखक और वाणी-विधायक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली अनन्य साधारण है। कबीर की वाणी वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस में रहा है और सुनने वाला तिलमिला उठा है यथा -

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
 मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहरा है ?
 चिऊँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
 पण्डित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता।
 अन्तर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।।
 सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरे खासा है।
 जेहिं घर साधू भीख न पावै, भंडुवा खात बतासा है।।
 हिरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
 कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।।

यह भाषा झकझोर देने वाली है, जितनी सादी उतनी ही तेज। पढ़ते समय साफ मालूम होता है कि कहने वाला अपनी ओर से एकदम निश्चिंत है। कबीर के पूर्ववर्ती लेखकों की आक्रामणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना पायी जाती है। मानो वे लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं। कबीरदास को जहाँ लापरवाही का कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म विश्वास का कृपाण भी। इसलिए अत्यन्त सीधी और सहज बात कहते समय भी उनके आत्मविश्वास का आक्रमक रूप प्रकट हो ही गया-

झीनी झीनी बीनी चदरिया

काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौर तार से बीनी चदरिया।

इंगला-पिंगला-ताना-भरनी, सुसमन तार से बीनी चदरिया।

आठ कँवल दस चरखा डोलै, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया।

साई को सियत मास दस लागै, ठोंक-ठोंक के बीनी चदरिया।।

सो चारद सुर-नर-मुनि ओढ़िन, ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।।

इसमें दम्भ का लेश भी नहीं है, घमण्ड का स्पर्श भी नहीं है। केवल अपने अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथाओं की सरलता पूर्ण स्वीकृति। पर लक्ष्य करने योग्य है कहने वाले की लापरवाही और शब्दों की अपार शक्ति है। कबीरदास की वाणी जनसाधारण की वाणी थी और साथ-साथ असाधारण जन की भी। आप की वाणी में काजी, मुल्ला, पंडित, पुजारी, अवधू और योगी की वाणी की क्षमता एक साथ थी। एक वाक्य में उनकी वाणी को कहा जा सकता है; वे वाणी के डिक्टेटर थे।



बिहारी का सौन्दर्य चित्रण

कविवर बिहारी मूलतः श्रृंगारिक कवि हैं। श्रृंगार की दिशा में उनकी काव्य चेतना का जितना उन्मेष हुआ है, उतना अन्य विषयों में नहीं। उन्होंने श्रृंगार वर्णन में अधिक रुचि दिखाई है। वस्तुतः बिहारी की दृष्टि सौन्दर्य निरूपण से अधिक रही है। इस निरूपण का आधार अधिकांशतः मानवीय ही अधि रहा है, तरन्तु साथ-साथ इन्होंने सौन्दर्य प्राकृतिक का भी मोहक चित्रण कि है, इस प्रकार बिहारी के सौन्दर्य चित्रण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. मानवीय-सौन्दर्य चित्रण २. प्राकृतिक-सौन्दर्य चित्रण

१. मानवीय-सौन्दर्य चित्रण:

इसके अन्तर्गत कवि ने नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य का चित्रण कुशलतापूर्वक किया है। इनके सौन्दर्य दृष्टि का परिचय संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत अधिक मिलता है। यही कारण है कि इन्हें संयोग श्रृंगार के वर्णन में अधिक सफलता मिली है। वैसे तो बिहारी ने श्रृंगार के दोनों पक्षों-- संयोग एवं विप्रलम्भ दोनों का वर्णन किया है। परन्तु इसमें सफलता उन्हें संयोग के वर्णन में ही मिली है। वियोग श्रृंगार तो मात्र ऊहात्मक एवं खेलवाड़ बनकर रह गया है।

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत आलंबन के रूप एवं सौन्दर्य का वर्णन किया जाता है। इसमें आलंबन के नखशिख सौन्दर्य एवं नायिका भेद की चर्चा की जाती है। संयोग श्रृंगार का सफल चितेरा कवि शरीर के विभिन्न अवयवों के सौन्दर्य का, उसके मोहक शारीरिक गुणों का आकर्षण प्रसाधनों का तथा वस्त्रसज्जा एवं आभूषणों का वर्णन करता है। इसके अतिरिक्त वह नायक-नायिका के विभिन्न हावों-भावों एवं अनुभावों, मुद्राओं तथा कामक्रीड़ाओं का वर्णन करता है।

(१) शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण:

बिहारी ने नायिका के रूप एवं सौन्दर्य का बड़ा ही मनोरम एवं चित्ताकर्षक वर्णन किया है। मनुष्य के शरीर में सौन्दर्य उसी प्रकार छिपा रहा है, जैसे सम्पूर्ण तिल में तेल छिपा रहता है, जैसे परिपक्व सेव के फल में मधुर लालिमा झलकती है। उसी प्रकार मानव शरीर में सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। सद्दय कवियों ने विविध प्रकार से इस सौन्दर्य को मूर्त रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। कभी-कभी कवियों ने नायिका की देहयष्टि से विच्छुरित होने वाली कान्ति एवं शोभा को वाणी दी है और कभी-कभी कवियों ने नायिका की देहयष्टि से विच्छुरित होने वाली कान्ति एवं शोभा को वाणी दी है और कभी-कभी प्रत्येक अंगों की शोभा का अलग-अलग वर्णन किया है। इस दोनों पध्दतियों को सामान्य रूप से सौन्दर्य वर्णन और नशशिख वर्णन कहते हैं।

सामान्य सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत प्रायः कवियों ने नारी की 'वर्ण व्यंजना' की है। बिहारी ने भी नायिका के रूप कवित्व का सजीव वर्णन किया है। भारतीय सौन्दर्य की दृष्टि से नारी का गौरवर्ण होना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। पुरुष श्यामल वर्ण का हो सकता है। उसकी श्यामलता में भी कवियों को अद्भुत कोटि के सौन्दर्य का दर्शन हुआ है। जबकि सामान्यतः नारी के श्यामल वर्ण की

रमणीयता का वर्णन कम मिलता है। कवियों ने नायिकाओं की तीन प्रकार की गोराई का वर्णन किया है। १) श्वेत २) पीत एवं ३) लाल। उदाहरणार्थ बिहारी एक श्वेतवर्णी शुक्लभिसारिका नायिका का वर्णन करते हुए बताते हैं कि, उसका वर्णन इतन उज्ज्वल है कि वह चाँदनी की शुभ्रता में घुलमिल गयी हैं -

“जुवति जोन्ह में मिलि गई नेकु न परति लखाई।
सौंधे के डोरें लगी, अली चली सँग जाई।।”

यहाँ नायिका चन्द्रमा की शुभ्रचाँदनी में घुलमिल गयी है, वह बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ रही है, मात्र उसके शरीर के गंध के कारण मात्र उसकी उपस्थिति का आभास हो रही है।

बिहारी की कनकवर्णी (पीतवर्णी) नायिका जब श्वेत रंग की साड़ी धारण करती है तो लगा है जैसे शरदऋतु के बादल में बिजली चमक गयी है -

“सोहति धोती सेत में, कनक बरन तन बाल।
सारद-वारद-बीजुरी-भारद-कीजत-लाल।।”

सौन्दर्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी कोमलता एवं सुकुमारता में होती है। बिहारी की नायिका एकदम कामलांगी है। इसके साथ ही उसमें अद्भुत कोटि का माधुर्य है। उसके शरीर में शोभा अथवा कान्ति अधिक है। उसकी सुकुमारता इतनी अधिक है कि वह आभूषणों का भी भार वहन नहीं कर पाती, केवल शोभा के भार से ही उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं -

“भूषन भार सम्हारि है, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँव न परत, सोभा ही के भार।।”

बिहारी की नवयौवना नायिकाका सौन्दर्य प्रतिक्षण बदलता है, उसको ठीक-ठीक अभिव्यक्त करना संभव नहीं है। यही कारण है कि संसार के बड़े-बड़े चित्रकार भी नायिका के सौन्दर्य का सही-सही चित्रण नहीं कर सके -

“लिखत बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरुर।
भए न केते जगत के चुतर चितेरे कूर।।”

क्षण-क्षण परिवर्तित सौन्दर्य की दृष्टि से नायिका की वयःसंधि की अवस्था का रूप और भी आकर्षक होता है। कभी नायिका के शरीर में शैवन और कभी उसके शरीर में शिशुता की झलक मिलती है। दोनों मिलकर छूपछाँही की कपड़े की कान्ति की तरह सुन्दर लगते हैं।

“छुटी न सिसुता की झलक झलक्योजो बन अंग।
दीपति देह दुहुन मिलि, दिपति ताफता रंग।”

इस प्रकार बिहारी ने नायिका के सौन्दर्य का विविध प्रकार से चित्रण किया है। इनका सौन्दर्य चित्रण एक से बढ़कर एक है। वे सौन्दर्य की प्रत्येक सम्भाव्य स्थितियों का न केवल सूक्ष्म

अवलोकन किये हैं अपितु उसकी बड़ी ही सुन्दर एवं मार्मिक अभिव्यक्ति भी कर सके हैं। बिहारी सतसई में अनेक आकर्षक चित्र उपलब्ध हैं, जो सद्दय के मन को मोह लेते हैं।

(२) नख-शिख वर्णन

‘नख-शिख’ वर्णन की परम्परा सौन्दर्य की एक अति प्रचलित साहित्यिक परम्परा है। कवि इसमें नायक तथा नायिका के शरीर के विभिन्न अवयवों नख से लेकर शिख तक के सौन्दर्य का आकर्षक वर्णन करता है। यद्यपि बिहारी ने किसी नायिका के नख से लेकर शिख तक का वर्णन व्यवस्थित ढंग से एक जगह पर नहीं किया है। फिर भी उनकी सतसई में नायिका के अलग-अलग अंगों की शोभा का वर्णन उनके दोहों में मिलता है। नख-शिख के अन्तर्गत बिहारी ने केश, मुख, दाँत, नेत्र, कपोल, चिंबुक का गढ़डा, उरोज, कटि प्रदेश, नितम्ब, ऐड़ी, पदांगुलियों एवं नख आदि की शोभा का मनोरम वर्णन किया है। डॉ. हरिवंश लाल शर्मा ने ‘बिहारी और उनका साहित्य’ में नख-शिख वर्णन के संदर्भ में कहा है - “बिहारी ने नख-शिख वर्णन में प्रायः परम्परागत ढंग को ही अपनाया है। वे ही रुढ़ीबद्ध उक्तियाँ, वैसी ही कल्पना उसी के अनुसार प्रतीक योजना आदि किन्तु जहाँ कहीं भी वे परंपरा का मोह छोड़कर, अपने शुद्ध बिहारीत्व को अपनाकर चले हैं। वहाँ उनकी में रमणीयता, रसमयता, नूतनता, स्वाभाविकता एवं मार्मिकता का पूर्ण समावेश हो गया है।”

बिहारी द्वारा सतसई में वर्णित नायिका के कुछ अंगों का वर्णन दृष्टव्य है -

मुख :-

बिहारी ने नायिका के मुख की शोभा की तुलना चन्द्रमा से किया है। नायिका जब श्वेत रंग की साड़ी पहनती है, तो उसके मुख की कान्ति और अधिक बढ़ जाती है -

“पँचरंगी - बेंदी खरी उठै उगि मुंह जोति।
पहिरै चीर चिनौटिया चटक चौगुनी होति।।”

ललाट :-

बिहारी ने ललाट की उपमा सूर्य से दी है। बिहारी प्रायः जब ललाट का सौन्दर्य वर्णन करते हैं, तो वह खाली नहीं रहता अपितु ललाट में बिंदी व टिकुली का भी उल्लेख रहता है। एक दोहा प्रस्तुत है, जिसमें उन्होंने बिंदी को चन्द्रमा से बिखरे हुए बालों को राहु से तथा ललाट को सूर्य उपमित किया है -

“भाल लाल बेंदी दिये, छुटे बार छवि देत।
गह्यौ राहु अति आह करि, मनु ससिसूर समेत।।

केश :-

बिहारी ने अनेक स्थलों पर केश संबंधित वर्णन किये हैं। इनके द्वारा वर्णित केशों में दीर्घता, मृदुलता, कुटिलता, नीलिमा एवं स्निग्धता आदि के गुण मिलते हैं। उदाहरणार्थ निम्न दोहा

द्रष्टव्य है -

“सहज सचिक्कन स्यामरुचि, सुंचि सुगन्ध सुकुमार।
गनत न मन पशु अपशु लखि, बिथुरे सुथरे बार।।”

नेत्र :-

बिहारी को नेत्रों का सौन्दर्य अत्यंत प्रिय है। बिहारी ने नेत्रों के सौन्दर्य का जितना अधिक वर्णन किया है, उतना बहुत कम कवि कर सके हैं। नयनों के सजीव चित्र अंकित करने में बिहारी बेजोड़ हैं। बिहारी द्वारा वर्णित नेत्रों के सौन्दर्य की मुख्य विशेषता है कि उनमें स्निग्धता, विशालता, चंचलता नीलिमा तथा नेत्रों के कोने में लालिमा आदि के गुण हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है -

“चमचमात चंचल नयन बिच घुँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता विमल, जल उछरत युग मीन।।”

अधर :-

बिहारी ने कई दोहों में नायिका के अधरों की लालिमा, माधुर्य, अमांसलता एवं स्वच्छता का वर्णन किया है। नायिका के ओठ इतने अधिक लाल व स्वच्छ हैं कि उसमें ‘बेसर मोती’ का प्रतिबिम्ब साफ-साफ दिखाई पड़ता है। जिसे मुग्धा नायिका चूना समझकर बार-बार पोछती है।

“बेसर-मोती दुति झलक परि ओठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर हिय क्यों यह पोछयो जाइ।।”

नाक :-

बिहारी के यहाँ नायिका के नासिक सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन दृष्टिगत होता है। नासिका-सौन्दर्य के अन्तर्गत उन्होंने उसके छिद्र, उसके ऊपर लगे हुए नुकीले तिलक, मोतियों से गुंथी हुई नथिया, लवंग फूल एवं सीक का वर्णन किया है। कवि ने इन तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में नासिका के रूप एवं गुणों की व्यंजना की है। एक दोहे में बिहारी नायिका की नासाछिद्र की वेधकता को व्यंजित करते हुए कहते हैं कि, नेत्रों का लोगों को बेधन तो अस्वाभाविक नहीं लगता, अर्थात् यह तो स्वाभाविक ही है, परन्तु नासाछिद्र तो बरबस नायक के हृदय को आकृष्ट कर लेते हैं -

“बेधक अनियारे नयनबेधत कर न निषेधु।
बरबस बेधत मों हियों तो नासाको बेधु।।”

एक जगह बिहारी मोतियों से गुंथी हुई नथ के कान्ति का वर्णन करते हैं, जिसकी आभा से युक्त नायिका हँसती सी लगती हैं -

“इहिं द्वैहिं मोती सुगध तूँ नथ, गरबि निसाँक।
जिहिं पहिरैं जग-दृग ग्रसति, लसनि हँसति सी नाँक।।”

कान :-

बिहारी ने नायिका के कान में लगी हुई खूभी एवं तरयौन का सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने इन आभूषणों के परिप्रेक्ष्य में कान के सौन्दर्य को चित्रित किया है। नाक में विभूषित खूभी नायक को कितना बेधती है, इसकी एक झलक निम्न दोहे में दिखाई दे रहा हो -

“लसतु सेत सारी ढप्यौ, तरल तरयौना कान।
परयौ मनो सुरसरि-सलिल रवि-प्रतिबिम्ब बिहान।।”

दाँत :-

बिहारी ने अपनी सतसई में दाँतों का भी वर्णन किया है। एक स्थल पर बिहारी मुस्कराती हुई नायिका के दाँतों का वर्णन करते हैं। नायिका के दाँत इतने स्वच्छ एवं कान्ति युक्त हैं कि नायक उसकी चमक से चाकाचौंध हो जाता है -

“नैक हसौं ही आनि तजि लख्यौं परत मुँह नीटि।
चौका-चमकनि चौंध में, परति चौंधि सी दीटि।।”

उरोज:-

नारी में उरोजों का वर्णन प्रायः सभी श्रृंगारी कवियों ने किया है। उरोजों के वर्णन में कवियों ने उसके औन्नत्य श्यामग्रता एवं कठोरता का विशेष वर्णन किया है। ये ही गुण किसी उत्तम उरोज की विशेषता है। इसे ध्यान में रखते हुए कवियों ने उरोजों की उपमा बेल, ल□□, पूँगफल तथा घट आदि से किया है। बिहारी ने एक स्थान पर उरोजों की उपमा एक ऊँचे पहाड़ से की है, जो परम्परित सौन्दर्य वर्णन की दृष्टि से उत्तम बन पड़ा है -

“चलन न पावत निगम मगु; जनु उपज्यौ अति त्रासु।

कुच उतंगगिरिबर गह्यौ, मैना मैनु उवासु।।”

स्पष्ट है कि बिहारी ने यहाँ उरोजों को उत्तंग गिरिवर से उपमित कर जहाँ उसकी विशालता एवं कठोरता का वर्णन किया है, वही मैना मैनु गवासु द्वारा उसके अपार कामोद्दीन क्षमता का, भी बिहारी ने उरोजों के अतिरिक्त उसके आवरण (अँगिया) का भी मोहक वर्णन किया है।

“भईजु छबि तनु बसन मिलि, बरनि सकैं सुन बैन।

आँग ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न।।

त्रिबली :-

नायिका के नाभि के निचले भाग को ‘बली’ कहा जाता है। जिस नायिका में तीन ‘बली’ होता है, उसे परमसुन्दरी एवं सौभाग्यवती माना जाता है। बिहारी ने त्रिबली का बड़ा ही सुन्दर एवं

मोहक वर्णन किया है। नायिका, नायक को त्रिबली नाभि दिखाती है, तथा सिर पर पल्लू डालती हुई संकोच का भी प्रदर्शन करती हुई अपनी इच्छा प्रकट करती है -

त्रिबली नाभि दिखाइ कर, सिर ढकि सकुच समाहि।

गली अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि।।”

कटि :-

किसी सुन्दरी नायिका के कटि का क्षीण होना शुभ माना जाता है। नायिका के कमर में दो मुख्य विशेषताएं होनी चाहिए - १) क्षीणता २) लचीलापन। इसकी क्षीणता को व्यंजित करने के लिए कवियों ने उसकी उपमा सिंह की कटि, सूई की नोक तथा शून्य से की है। बिहारी सतसई में भी कटि के इन गुणों से संबंधित कई दोहे मिलते हैं। बिहारी ने कटि की क्षीणता को स्पष्ट करने के लिए अमूर्त एवं अगोचर ब्रह्म की उपमा दी है।

‘लहलहाति मन तरुनई, लचि लगलौं लफि लाइ।

लगै लाँकि लोचन भरी, लाहनु लेत लगाइ।।

बिहारी ने कटि के दूसरे गुण ‘लचीलापन’ कर भी सुन्दर वर्णन किया है। किसी अज्ञात यौवना नायिका के झूला झूलते समय की कटि का करते हैं कि, उसकी क्षीण कटि में इस समय और भी लचीलापन आ गया है और कमर टूटते-टूटते लचककर बच जाती है।

“बरजैं दूनी हठ चढै, ना सकुचै न सकाई।

टूटता कटि दुमची-चमक लचकि-लचकि बचि जाइ।।”

जंघा :-

प्रायः कवियों ने नायिका के जाँघों की चिक्कणता एवं गोलाई का वर्णन किया है। गौरवर्णी नायिका के जंघों की उपमा केले के खम्भे से की जाती है। बिहारी की नायिका के जाँघों की इस विशेषता को देखकर केले के खम्भे भी लज्जित हो जाते हैं, क्योंकि वे ऐसे सुन्दर नहीं हैं, जैसे की नायिका के जाँघ -

“जाँघ जुगल लोइन निरे, केर मनौ विधि मैन।

केलि-तरुन दुखदै नए, केलि तरुन सुख दैन।।”

एड़ी :-

बिहारी नायिका के एड़ी की सुकुमारता एवं लालिमा से अधिक प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अनेक दोहों में इन विशेषताओं का वर्णन किया है। बिहारी ने नायिका के पैरों की कोमलता एवं सुकुमारता को गुलाब के फूलों से भी बढ़कर बताया है -

“छाले परिबे कै डरनु, सकै न हाथ छुवाई।
झझवत हियँ गुलाब कै झवां झँवैयत पाई।।”

एक दोहे में नाइन नायिका की एड़ी में महावर लगाने के लिए उसे बार-बार रगड़ कर साफ कर रही है, परन्तु नायिका की एड़ी प्रकृतितः इतनी लाल है कि बिना महावर लगाये ही महावर जैसी लाल है। नाइन के इस भ्रम द्वारा बिहारी नायिका के अतिशय अरुण एड़ी की व्यंजना करते हैं।

“पाइ महावर दैन को नाइनि बैठी आइ।
फिर-फिर जानि महावरी, एँडी भीड़ति जाइ।।”

(२) प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण:

कवि ने केवल सामाजिक परिवेश से ही प्रभावित होता है, अपितु वह अपने चतुर्दिक व्याप्त प्राकृतिक वातावरण से भी काफी प्रभावित होता है। यही कारण है कि आदिकाल से ही कविताओं में प्रकृति का चित्रण मिलता है। कवि एक संवेदनशील प्राणी होता है। अतः वह प्रकृति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म उपादानों से भी प्रभावित होता है। जिस कवि में प्रकृति के निरीक्षण की जितनी गहरी अनुभूति होगी उसकी रचना इस दृष्टि से उतनी ही सशक्त होगी। आरंभ से ही मनुष्य ने प्रकृति को विभिन्न रूपों में देखा है। कभी प्रकृति मित्र और सखा के रूप में प्रतीत होती है, तो कभी वह उपदेश देती हुई प्रतीत होती है। संयोगकाल में लोगों को प्रकृति के सुन्दर एवं आकर्षक दृश्य प्रिय एवं आल्हादकारक प्रतीत होते हैं, तो वियोग काल में वे ही दृश्य कष्टदायक एवं प्राणघातक लगते हैं। कवियों ने इन विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। बिहारी भी इसके अपवाद नहीं है। इनकी सतसई में भी प्रकृति के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन किया गया है पर एक समर्थ कवि में जैसे विस्तृत एवं व्यापक क्षेत्र से गृहीत उपादानों द्वारा प्रकृति चित्रण मिलता है, वैसे बिहारी की रचनाओं में नहीं प्राप्त होता। इसका कारण यह है कि बिहारी की दृष्टि प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में फैली हुई नहीं थी बल्कि वह एक सीमित दायरे में बंधी थी। बिहारी मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित कवि थे। अतएव उनकी रचनाओं में राजा, महाराजा एवं सामन्तों एवं उच्च वर्ग के लोगों के आस-पास के प्राकृतिक क्षेत्र के उपादान ग्रहण किये गये हैं। यत्र-तत्र उनमें सामान्य जीवन से भी प्राकृतिक दृश्यों का चयन किया गया है, परन्तु जैसी सफलता बिहारी को अपने आस-पास के परिवेशगत प्राकृतिक उपादानों के चित्रण में मिली है, वैसी सफलता अन्य स्थानों पर नहीं मिल पाई है।

बिहारी के प्रकृति चित्रण को मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है - १) उद्दीपनगत चित्रण २) आलंकारिक चित्रण ३) आलम्बनगत चित्रण ४) उपदेशगत चित्रण

उद्दीपनगत चित्रण

बिहारी की रचनाओं में प्रकृति के उद्दीपनगत रूपों का वर्णन विपुल परिणाम में मिलता है। प्रकृति बिहारी की नायक-नायिका के मनोभावों को और अधिक उद्दीप्त करने में सहायक होती है। कहीं प्रकृति के उपादान नायिका के संयोग सुख को और अधिक बढ़ाते हैं, तो कहीं उसके वियोग दुःख को और कष्टकर बनाते हैं। इन स्थानों पर स्वतंत्र रूप से प्रकृति-चित्रण का लक्ष्य नहीं रहता है। कवि का प्रधान लक्ष्य नायक व नायिका के सौन्दर्य अथवा मनोभावों के चित्रण में रहता है, गौण

रूप से उसे अधिक चटकीला अथवा मार्मिक बनाने के लिए प्राकृतिक उपादानों का चयन किया जाता है। बिहारी इस दृष्टि से उच्च कोटि के कवि हैं। उन्होंने आवश्यकतानुसार प्राकृतिक उपादानों का चयन कर अपनी नायक-नायिका के मनोदशाओं का मार्मिक चित्रण किया है, परन्तु इन स्थलों में भी बिहारी एक सीमित दायरे में ही प्राकृतिक उपादानों का चयन करते हैं। बिहारी की नायिका की सखी उसे (मानिनी नायिका का) उपदेश देते हैं कि पावस ऋतु में तुम्हें मान नहीं करना चाहिए। सखी प्रकृति की उद्दीपन शक्ति से परिचित है। वह जानती है कि पावस ऋतु में वह शक्ति है कि, वह बड़ी से बड़ी हठीली (मानिनी) नायिकाओं के हठ को भी चूरकर देती है, तो तुम्हारी क्या हस्ती है -

“हतु न हठीली करि सकै, यह पावस ऋतु पाइ।
आन गाँठि घुटि जाइ त्यों, मान-गाँठि छुटि जाई।।”

कवियों ने पावस ऋतु का श्रृंगार के संबंध में अधिक वर्णन किया है। गोस्वामी तुलसीदासजी जैसा मर्यादावादी कवि के नायक राम भी वर्षा ऋतु में विचलित हो उठते हैं। लक्ष्मण से कहते हैं - “घन घमंड गरजत नभ घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।।” बिहारी तो श्रृंगार के कवि हैं, अतः उनकी सतसई में प्रकृति की उद्दीपन शक्ति का प्रचुर मात्रा में वर्णन है। बिहारी की नायिका को पावस ऋतु की प्रथम वर्षा (बादल) न केवल उसे (नायिक को) अपितु सम्पूर्ण संसार को जलाता हुआ प्रतीत होत है-

“धुखा होहिं न अलि उटै, धुआँ धरनि-चहुँकोद।
जारत आवत जगत कौं, पावस प्रथम पयोद।।”

रीतिकालीन कवियों में ऋतु वर्णन अथवा ‘बारहमासा वर्णन’ की पद्धति द्वारा प्रकृति-चित्रण काफी लोकप्रिय रहा है। बिहारी की रचनाओं में भी ऋतु वर्णन की इस पद्धति का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की पद्धति में भी प्रायः प्रकृति का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की पद्धति में भी प्रायः प्रकृति उद्दीपन रूप का ही चित्रण किया जाता है। बिहारी ‘सतसई’ में प्रायः सभी ऋतुओं से संबंधित सुन्दर दोहे संकलित हैं। ऋतु वर्णन को इस पद्धति का स्पष्टीकरण निम्न उदाहरणों द्वारा किया जा सकता है -

“दिसि-दिसि कुसुमति, देखियत, उपवन-विपिन-समाज।
मनहुँ वियोगिन को कियौ, सर-पंजर-रितु राज।।”

उपर्युक्त दोहे में ऋतुराज वसंत का वर्णन है। वियोगियों का चारों दिशाओं में फूले हुए वनों एवं बगीचों को देखकर उन्हें कष्ट होता है, तथ उनकी विरह वेदना और तीव्र हो जाती है। बसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है। इस ऋतु में नायिका की मनोदशा का वर्णन देखिये -

“नाहिंन ए पावक-प्रबल लुवैं चलैं चहु पास।
मानसु बिरह बसंत कै ग्रीष्म लेत उसास।।”

इस दोहे में ग्रीष्म ऋतु को नायिका के रूप में और ऋतुराज बसंत को नायक के रूप में चित्रित किया गया है। अपने प्रिय बसंत के वियुक्त हो जाने से मानो ग्रीष्मऋतु रूपी नायिका लम्बी

गर्म उसाँसे ले रही है। इसीलिये यह लू चल रही है।

ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आगमन होता है। भयंकर गर्मी के बाद वर्षा की झीनी-झीनी फुहार, जहाँ संयोगरत नायक-नायिकाओं को आनंदित करते हैं वहीं यह मधुर ऋतु प्रिय के अनुपस्थिति में नायिका को प्राणघाती कष्ट पहुँचाते हैं। नायिका उन बादलों की घटा एवं मधुर ऋतु को देखकर प्रिय को याद करती है और उसे न पाकर दुःखी होती हुई सखी से कह रही है -

“कौन सुने कासों कहीं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यों लेतु है, ए बदरा बदराह।।”

पावस के बाद शरद ऋतु आती है। इस ऋतु में आकाश साफ एवं स्वच्छ हो जाता है। रात में चन्द्रमा एवं चन्द्रिका की शोभा अभूतपूर्व हो जाती है। बिहारी को शरद ऋतु एक सुन्दरी की तरह प्रतीत होती है -

“अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग खंजन मुखचंद।
समै आइ सुन्दरि सरद, काहि न करति अनन्द।।”

इसके बाद हेमन्त ऋतु का आगमन होता है। इस ऋतु में दिन छोटा एवं रात्रि बड़ी होती है। रात्रि के बड़ी होने से प्रेमीजन अपने प्रेमपात्र के सानिध्य का सुख बहुत देर तक लेते हैं। हेमन्त ऋतु में घर-घर अपार सुख की वृद्धि होती है। केवल चकवा-चकई को कष्ट होता है -

“ज्यों-ज्यों बढ़ति विभावरी त्यों-त्यों बढ़त अनंत।
ओक-ओकसब लोक सुख कोक-सोक हेमन्त।।”

हेमन्त ऋतु में आने वाला अगहन महीना तो सर्वाधिक कामोद्दीपक है। इस ऋतु में तो अजेय लोगों को भी कामदेव जीत लेता है। योगी, तपस्वी, संयमी आदि सबके वश में कर लेता है। सामान्य लोगों की बात ही और है। इसी महीने में इतना प्रभाव है कि यह कामदेव को कोई यत्न (हाथ में बाण उठाने) करने ही नहीं देता -

‘कियो सबै जगु कामबस, जीते जिते अजेय।
कुसुम सरहिं सर धनुष कर अगहनु गहन न देई।।’

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविवर बिहारी ने ऋतु वर्णन की परम्परा का भी पालन किया है और उनके माध्यम से प्रकृति के उद्दीपन गत रूप को अच्छी तरह चित्रित किया है। इनके द्वारा किया गया प्रकृति-चित्रण नायक-नायिका के प्रेम व्यापारों के इर्द-गिर्द मंडराता है। प्रेम के क्षेत्र के बाहर पड़ने वाले स्थानों पर इनकी दृष्टि नहीं जा पाई है। जहाँ गयी भी है, वहाँ प्रेम का कोई संदर्भ अवश्य परिलक्षित होता है।

(२) आलंकारित प्रकृति-चित्रण

कभी-कभी कवि अलंकारों के प्रयोग द्वारा प्रकृति का मोहक चित्र उकेरता है। जिस चित्र

को वह सरल ढंग से व्यक्त कर सकता है, उसे ही जब वह आलंकारिक शैली में प्रयुक्त करता है तो काव्योत्कर्ष और भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए एक दोहा द्रष्टव्य है इसमें बिहारी ने श्लेष, रूपक एवं उपमा अलंकार के प्रयोग द्वारा रात्रिकालीन दृश्य का वर्णन किया है। रात्रि कवि को तारों से युक्त श्याम रंग की चुनरी धारण किये हुए चन्द्रमुखी नायिका की तरह प्रतीत होती है, जिसे देखते ही नायक को प्रेमरूपी नींद दबाने लगती है -

“चुनरी स्याम सतार नभ, मुह ससि की उनहारि।
नेह दबावतु नींद लौं, निरखि निसा सी नारि।।”

इस प्रकार अनेक उदाहरण बिहारी सतइर्स में भरे पडे हैं।

(३) आलम्बनगत प्रकृति-चित्रण

बिहारी सतइर्स में प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपनगत ही नहीं बल्कि आलम्बनगत भी पाया जाता है। तात्पर्य यह कि बिहारी के दोहों में चित्रित प्रकृति मात्र नायक नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त रकने तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनके स्वतंत्र चित्र भी अंकित है। कई दोहों में बिहारी ने प्राकृतिक उपादानों का स्वतंत्र रूप से भी चित्रण किया है। प्रकृति के जड़ पदार्थों पर उन्होंने चेतनता का भी आरोपण किया है। स्वतंत्र चित्रण की दृष्टि से निम्न दोहा द्रष्टव्य है -

“छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर-ठौर झौरत झपत, भौर-भौर मधु अंश।।”

उपर्युक्त दोहे में वसन्त ऋतु का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया है। खिले हुए फूलों के मकरन्द की गंध एवं आम्रमंज्जारियों की सुगन्ध से मतवाला हुआ भ्रमर समुदाय जगह-जगह झुण्ड रूप में यत्र-तत्र मडराते फिर रहे हैं। इस दोहे में कवि ने वसन्त ऋतु के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। यहां वसन्त ऋतु की अंधेरी रात का वर्णन करते हैं। कवि वर्षाऋतु के अंधेरे का परिचय इस प्रकार दे रहा है -

“पावस घन आँधियार मह रह्यौ भेद नहीं आनु।
गति द्यौस जान्यों परै, लखि चकई-चकवान।।”

वर्षा ऋतु में इतना घनघोर अंधकार छाया रहता है कि रात्रि-दिवस का अंतर मात्र चकवा चकई से ही जान पड़ता है। इसी प्रकार माघ महीने का एक चित्रण द्रष्टव्य है -

“लगत सुभग सीतल किरन, निसि सुखदिन अवगाहीं।
माह ससी-भ्रम सूर त्यों, रहत चकोरी चाही।।”

प्रकृति की सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति के बल पर स्वतंत्र चित्रण के अतिरिक्त बिहारी ने उस पर मानवीय भावनाओं का भी आरोप किया है। शीतल मन्द समीर को नायिका रूप प्रदान कर अपनी रागात्मक चेतना का परिचय दिया है -

“लपटी पुहुग पराग पट, सनी स्वेद मकरनन्द।
आवति नारि नबाढ लौं, सुखद वायु गतिमन्द।।”

मूलतः बिहारी सामन्ती वातावरण एवं उसके परिवेश से ही संबंधित चित्र अधिक खींचे हैं। उनकी रचनाओं में सुंदर उपवन बाग-बगीचों तथा काम प्रसंगों से संबंधित अन्य प्राकृतिक उपादानों एवं ऋतुओं का ही प्रचुर वर्णन किया है।

(४) उपदेशगत चित्रण:

कभी-कभी कवि प्राकृतिक उपादानों एवं घटनाओं का चित्रण इस प्रकार करता है कि उससे मनुष्य को पर्याप्त संदेश मिलता है। यद्यपि इस दृष्टि से बिहारी के दोहों का महत्व अधिक नहीं है, फिर भी यत्र-तत्र इस प्रकार के दोहे बिहारी सतसई में मिल जाते हैं। एक दोहे में उन्होंने पूस महीने के सूर्य के उदाहरण द्वारा घर-जमाई लोगों को उपदेश दिया है -

“आवत जात न जानियत ते जहिं तजि सियरान।
घरहँ जवाँई लौं घट्यौं, खरौ, पूस-दिन मान।।”

एक दोहे में बिहारी ने कठिनाई से दान करने वाले दानी व्यक्ति को बसन्त ऋतु के माध्यम से उपदेश दिया है -

“नहि पावसु ऋतुराज यह, तकज तरवर चित-भूल।

अपतु भएँ बिनु पाइहै, क्यों नव दल फल-फूल।।”

इस प्रकार बिहारी प्रकृति की एक-एक घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, उसके माध्यम से लोगों को संदेश देते हैं।

इस प्रकार बिहारी ने प्रकृति के नाना रूपों का चित्रण अनेक प्रकार से किया है। अपने सीमित दायरे के अन्दर चित्रित उनका प्रकृति-चित्रण सुन्दर एवं महत्वपूर्ण है।

बिहारी काव्य में शृंगार:

भारतीय शृंगार काव्य की परम्परा बहुत पुरानी है। यह परम्परा निरंतर प्रवाहमान होती रही है। भारतीय शृंगारिक काव्य का रूप परिवर्तन भले ही हुआ हो, पर उसकी मूल चेतना सदैव एक रही है। यही कारण है कि रीतिकाल में जिस शृंगारिकता का विकास हुआ उस पर भारतीय शृंगार परम्परा का जबरदस्त प्रभाव है और वह फारसी के शृंगारिक प्रभाव से अपने को सदैव बचाती रही। कुछ लोगों ने रीतिकाल की समस्त शृंगारिक रचनाओं को दरबारी प्रभाव में लिखा गया माना है। परन्तु यह एक भ्रम है। वस्तुतः दरबारी काव्य में भावों की जो अभद्रता और बाजारूपन है, वह रीति युग के शृंगारिकों में किंचित भी नहीं मिलता। सत्य तो यह है कि बिहारी आदि कवि दरबारों में रहकर भी उनके बाजारूपन से बहुत आगे निकल चुके थे। उनकी रचनाओं में प्रेम व्यंजन की ऐसी तरलता है जो आत्मा को सहल ही प्रभावित कर लेती है। इस शृंगारिकता के विषय में दूसरी बात यह भी ज्ञात है कि उसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र गार्हस्थिक है, इसका राज यह है कि

रीतिकाल भारतीय परंपरा की ही एक स्वाभाविक विकास है। उस पर बाह्य प्रभाव बहुत कुछ पड़ा जरूर किन्तु उसका मूल तत्व सदा भारतीय ही रहा।

यह स्पष्ट है कि बिहारी की श्रृंगारिक चेतना का धरातल सूर आदि भक्त कवियों की तुलना में बहुत उदात्त न था, फिर भी यौवनोन्माद की मधुर एवं सूक्ष्म चेष्टाओं के विधान में उनकी प्रतिभा का लोहा मानना पड़ता है। इन्होंने श्रृंगारिक परिवेश में गार्हस्थ जीवन तथा स्त्री पुरुष के रमणीय संबंधों की जैसी मादक उद्भावना अपनी सतसई में की है, वह देव, मद्माकर जैसे दो चार कवियों को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्यों ने श्रृंगार को दो वर्गों में विभाजित किया है।

१) संयोग श्रृंगार २) वियोग श्रृंगार।

१) संयोग श्रृंगार:

कविवर बिहारी लौकिक श्रृंगार के प्रबल प्रतिपोषक थे। उन्होंने संयोग और वियोग के ऐसे चित्रों की उद्भावना की है जो कहीं-कहीं परम्परा से मिलने वाले चित्र से सर्वथा भिन्न और नूतन प्रतीत होता है।

वास्तव में श्रृंगार रस के अन्तर्गत मिलन या संयोग की स्थिति अत्यंत मधुर और आकर्षक मानी गयी है। यही कारण है कि सद्दय कवियों ने विभिन्न दृष्टियों से इस पक्ष के अन्तर्गत अनुभूति और कल्पना का ऐसा कौशलपूर्ण समन्वय किया है कि वह रसिकों के लिए सहज ही संबंध बन गया है। संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत बिहारी ने कृष्ण और राधा के मिलन, दर्शन, रूपाकर्षण, विनोद, परिहास आदि प्रेम-मूलक प्रसंगों को जैसी अवतारणा की है वह बहुत कुछ जयदेव और विद्यापति की परम्परा में आती है। हाँ, यह बात जरूर है कि सतसई में जहाँ मुरारि, घनश्याम आदि नामों की छाप नहीं है, वहाँ साधारण नायक-नायिका का भी बोध हो जाया करता है।

बिहारी एक कुशल और मंजे हुए कलाकार थे। वातावरण और परिस्थितियों की सूक्ष्मता से वे पूर्ण परिचित थे। वे भली-भाँति जानते थे कि मिलन और दर्शन, दृष्टि निरपेक्ष और कटाक्ष का विनियोग किस वातावरण में और किन परिस्थितियों में किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ दर्शनाभिलाषिणी राधा मोहन की 'दुति' किस लगन और किस स्थान से देख रही है-

ठाढी मंदिर पै लखे मोहन दुति सुकुमारी।

तन थाकेहू ना थकै चरणचित चतुर निहारि।।”

वस्तुतः रूप लिप्सा की प्रवृत्ति प्रेम मूलक मानी गयी है। क्योंकि आलंबन की एक भी चेष्टा उसके सौन्दर्य की झलक तथा उसक नख-शिख का कोई भी अंग हृदय को आकृष्ट कर लेता है। बिहारी ने अपनी सतसई में रूप-चेतना द्वारा जिस प्रेम का अंकन किया है, उसमें आत्मबलिदान की भावना का सर्वथा अभाव है। उनकी दृष्टि रूप के उन्हीं स्वरूपों को विश्लेषित करती है। जो मधुर भाव व्यंजना के साथ ही इंद्रिय तृप्ति के साधनों को जुटा सके। निःसंदेह उनके रूप चित्रण में हमें ऐन्द्रियता की ऐसी मार्मिक और प्रभावोत्पादक संवेदना मिलती है जो अपनी विशिष्टता में बेजोड़ है।

बिहारी के आलंबन रूपकर्षण से संबंधित रचनाओं को सुविधानुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(अ) नख-शिख वर्णन विषयक (ब) मुद्रा अंकन एवं चेष्टा निरूपण विषयक।

(ब) नख-शिख वर्णन:

भारतीय वाङ्मय में नख-शिख परंपरा बहुत पुरानी है। हिंदी में प्राप्त नख-शिख ग्रंथों में रसलीन कृत 'अंगदर्पण' 'रंगफलकृत' 'अंगादर्श' मुबारक रचित 'तिलशतक' तथा केशव, बलबद्र चंद्रशेखर, ग्वाल आदि कवियों द्वारा प्रणीत नखशिख रचनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नखशिख विषय पर स्वतंत्र रूपेण काव्य रचना का प्रयास बहुत कुछ श्रृंगारिक मुक्तकों की परंपरा में आसानी से दृष्टिगत हो जाता है। लाला भगवान दी ने अपनी बिहारी बोधिनी में तैतीसवें दोहे से लेकर एक सौ तरेहवें दोहे तक रूप वर्णन के अंतर्गत अंगों के अलावा नारी आभूषणों की चर्चा की है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रंथों के रूप में अपनी सतसई नहीं लिखी है। नख-शिख नायिका भेद, षड्भक्तु के अंतर्गत उनके सब श्रृंगारिक दोहे आ जाते हैं।

बिहारी के आलोचकों की यह शिकायत है कि बिहारी ने नखशिख के अंतर्गत पूरे अंगों का वर्णन नहीं किया है तथा उसमें दाँत, ग्रीवा हाथ जैसे प्रमुख अंगों का संकेत तक नहीं है। उस दृष्टि से बिहारी ने किसी परिपाटी बदृता की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उक्त अंगों का वर्णन नहीं किया। इस अपेक्षा के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बिहारी ने दाँतों का हास्य एवं हाथ के सौन्दर्य का वर्णन भी यथा स्थान अवश्य किया है। उँगलियों के वर्णन में हाथों का सौंदर्य स्वतः लक्षित हो जाता है, और ग्रीवा का वर्णन आंगिक चेष्टाओं के क्रम यत्र-तत्र हुआ है।

बिहारी की रचनाओं में परंपरा का आग्रह है फिर भी कवि की रूप चेतना परंपरा से आगे बढ़ने की भी चेष्टा करती है। उन्होंने नख-शिख वर्णन को आकर्षक एवं मादक बनाने के लिए यत्र-तत्र नये कल्पना का भी प्रश्रय लिया है यथा नायिका के नेत्रों के वर्णन का यह दोहा द्रष्टव्य है -

“दृगनुं लगत बेधत हियहिं बिकल करत अंग-आन।

ए तेरे सब तैं विषय ईछन तीछन बान।।”

नख-शिख वर्णन के अंतर्गत बिहारी ने सौंदर्य प्रसाधन की बातों का भी समावेश किया है। इनमें मुख्य रूप से वस्त्र, आभूषण आदि का वर्णन किया गया है। उसके अतिरिक्त बिहारी ने नायिका की सुकुमारता कांति, लावण्य दीप्ति, शोभा सुगंधि आदि का अत्यंत सरस, भावपूर्ण और मोहक वर्णन किया है।

(ब) मुद्रा-अंकन एवं चेष्टा निरूपण:

आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल ने बिहारी की समीक्षा करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि - “बिहारी की रस व्यंजा का पूर्ण वैभव उनके अनुभवों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उचित कौशल्य के दर्शन होते हैं। पर इस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई श्रृंगारी कवि नहीं कर सका है।” उसमें किंचित संदेह नहीं कि बिहारी जैसे श्रृंगारी मुक्तककार कम ही मिलते हैं,

जिन्होंने नायिका का सौंदर्य निरूपण करते समय आंगिक चेष्टाओं का इतना सटिक वर्णन किया हो। बिहारी की सजगता भारी दृष्टि अनुभावों के विधान में कहीं चूक गयी हो, ऐसा अवसर कम ही आता है, उन्होंने जिस यत्न साधित कला एवं कौशल्य द्वारा अनुभावों की सजीव प्रतिमा खड़ी की है, वह सबके लिए सहज नहीं है।

बिहारी ने अपनी सतसई में अनुभावों का विधान करते समय प्रायः नायिका की चेष्टा पर अधिक बल दिया है। इसके अलावा यत्र-तत्र नायिका के अलावा नायक की मुद्रा का भी स्वाभाविक अंकन किया है।

अनुभाव योजना:

शास्त्रकारों ने अनुभाव के चार भेदों की चर्चा की है, वे चार इस प्रकार हैं -

१) कायिक २) मानसिक ३) आहार्य ४) सात्विक

संचलनादि शारीरिक क्रिया एवं मनोविकार की उत्पत्ति के अनंतर तदनुसार मुख पर प्रकट होने वाले योग्य चिन्हों को कायिक अनुभावों के ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमें आंगिक चेष्टाओं का सहज लावण्य सर्वथा मौलिक एवं बेजोड़ है। कायिक अनुभाव से संबंधित एक छंद इस प्रकार है -

“गुड़ी उड़ति लखि काल की आँगन-आँगन माँहि।

बौरी लौं दौरी फिरै छुवत छबीली छाँहि।।”

नायक की पतंग उड़ी हुई देखकर उसकी छाया अपने आँगन में पड़ती हुई जानकर नायिका अपने आँगन में उस पतंग की छाया को स्पर्श करने के लिए पगली सी दौड़ती है। उसमें नायिका की उन्माद दशा का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन हुआ है।

संयोग कालीन अवस्था में आंतरिक आनंद के फलस्वरूप जो स्वेदः कम्प रोमांच वैवर्ण्य आदि दिखाई देते हैं उनकी गणना सात्विक अनुभाव में की जाती है। सत्व गुण से उत्पन्न होने वाले नैसर्गिक अंग विकार को सत्वगुण या सात्विक अनुभाव कहते हैं। इनके आठ भेद होते हैं - स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेष्यु, वैवर्ण्य अश्रु और प्रलय। सात्विक अनुभावों का जन्म प्रायः प्रिय के दर्शन श्रवण द्वारा उसके गुणों की विविध क्रियाएं शरीर के विभिन्न जंगों पर लक्षित होती हैं, प्रेम के संबंध में स्पर्श का अधिक प्रभाव देखा जाता है। यौन आवेगों की स्थिति ज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम संबंधी संवेगों में इसे प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रेमी प्रेमिका का स्पर्श विद्युत प्रवाह के समान संपूर्ण शरीर में एक विचित्र सिहरन भर देता है जैसे --

“रहौ गुही बेनी लखियो गुहिबे को त्यौनार।

जागे नीर चुचान ये नीठी सुखाए बार।।”

नायक नायिका की चोटी गूँथता है। स्पर्श से दोनों को स्वेद हो आता है और स्वेद के कारण नायिका के वेणी के बाल भीग गए हैं। अपना सात्विक भाव छिपाने के निमित्त नायिका कहती

है, रहने दो गूँथ चुके वेणी, देख लिया तुम्हारा ढंग, इतनी कठिनाई से जो बाल मैंने सुखाए थे फिर गीले हो गए। इसमें जो प्रेम की व्यंजना की गई है व श्लाघ्य है।

आगमिष्यत्पतिका नायिका के संदर्भ में बिहारी से श्रवण जन्य सात्विक अनुभाव के स्वरूप का बड़ा ही कलात्मक विवेचन किया है -

“कहि पठई जिय भावती प्रिय आवन की बात।
फूली आँगन में फिरें आँगन आँगि समात।।”

प्रियतम ने जी को सुख देने वाली बात नायिका के पास कहला भेजी है। नायिका इस बात को सुनकर आँगन में प्रसन्नता से घूमने लगी है, तथा इस प्रसन्नता के कारण उसके स्तन इतने फूल उठे कि कंचुकी स्तनों के लिए छोटे पड़ने लगे।

संयोग श्रृंगार में रुपासक्ति एवं दर्शन जनित सात्विक अनुभाव का उल्लेख बिहारी सतसई में कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान पर उपपत्ति नायक के दर्शन से प्राप्त नायिका के स्वेद एवं रोमांच का भाव पूर्ण चित्रण इस प्रकार हुआ है -

“पुछैं क्यों रुखी परित सगिबगि गई सनेह।
मन मोहन छबि पर कटी, कहै कंटयानी देह।।”

नायिका के स्वेद एवं रोमांच को देखकर सखियाँ उससे पूछती हैं कि यद्यपि तू नायक के प्रेम में लथपथ हो गई है -- स्नेह के कारण पसीने से तर हो गई है -- फिर पूछने पर क्यों रुखी पड़ती है, कृष्ण की छबि पर तू कितनी आसक्त है, यह तो तुम्हारा रोमांचित शरीर ही बतला रहा है।

हाव-योजना:

साहित्य दर्पण में चित्त की निर्विकार अवस्था का नाम 'सत्त्व' बतलाया गया है, और इसी सत्त्व में जो पहला विकार उत्पन्न होता है उसे 'हाव' की संज्ञा दी गई है। किंतु 'हाव' उसी तीव्र रति विकार को कहते हैं जो अपनी तीव्रता के कारण शरीर के बाहरी अंगों की विलक्षण प्रकृति के द्वारा लक्षित होने लगता है। इससे दृष्टि में भौं हों पर और चाल ढाल में एक प्रकार का अनोखापन आ जाता है। हिंदी में 'हाव' को अनुभाव के अंतर्गत माना गया है। 'रसकुमार' नायक ग्रंथ में हाव में परिभाषा - “संयोग के समय स्त्रियों की स्वाभाविक चेष्टा विशेष को हाव कहते हैं” की गई है।

विपरीत, सूरत, सूरतान्त के आभोग में बिहारी ने हावों की ऐसी सटीक एवं मधुर कल्पना समन्वित चित्रावलियों की अवतारण की है कि लगता है कि वे केवल परंपरा की लीक पर चलने वाले कवि नहीं थे अपितु एक मौलिक एवं सजग कलाकार थे। एक विपरीत रति का चित्र दर्शनीय है -

“बिनती रतिविपरीत की करी परीस प्रिय पाय,
हँसि अनबोले ही दियो ऊतर दियो बुझाय।।”

नायक नायिका के चरणों का स्पर्श कर विपरीत रति की विनती करता है, नायिका के बिना कुछ कहे हँस कर दीपक बुझाते हुए उत्तर दिया। इसमें बोधक हाव के साथ ही अनुभाव और हर्ष संचारी भाव का कलापूर्ण सन्निवेश हुआ है। उसी प्रकार एक विलास हाव का चित्र प्रस्तुत हुआ है -

“बतरस लालच लालकी मुरली धरी लुकाय।
सौँह करें भौहनि हंसे देन कहै नटि जाए।।”

यहाँ कटाक्षादि चेष्टाओं द्वारा जहाँ एक ओर मूक भाव व्यंजनाओं का प्रकृष्ट रूप लक्षित होता है वहीं देन कहें नटि जाए में जैसे समस्त चित्र नाटकीयता के इस व्यापार को मुखरित करने में पूर्ण सक्षम है।

हास एवं विनोद

प्रेम का श्रृंगार के प्रसंग में हास-परिहास एवं विनोद का भी प्रायः वर्णन आता है। हास-परिहास में कभी तो हृदय की उन्मुक्तता प्रेमी युगल को समीप लाती है और कभी हृदय की अन्य भावनाएँ वक्रता पूर्ण रूप से व्यक्त हो उठती हैं। जैसे -

“लाज गहो वेकाज कत घेरि रहे घर जाँहि।
गोरस चाहत फिरत हौं, गो रस चाहत नाँहि।।”

परिहास का यह अच्छा उदाहरण है, नायिका कहती है -- कुछ तो शर्म करो, बेकार में घेर रहे हो, घर जाने दो। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ, तुम इंद्रिय रस खोजते फिरते हो गो रस नहीं। इस परिहास में नायिका ने अपना गूढ़ मन्तव्य भी प्रकट कर दिया है। इस प्रकार के अनेक स्थल बिहारी सतसई में प्राप्त होते हैं।

वन-विहार एवं मदपान

जल-विहार के साथ ही वन-विहार वर्णन में कवि के मन का सहज उल्लास प्रकट हुआ है। यद्यपि वन जीवन की सहज अभिव्यक्ति बिहारी में नहीं मिलती परंतु झलक अवश्य मिल जाती है उदाहरण के लिए एक स्वयंदूती नायिका का वर्णन जो वन-विहार में कुशल और वन के वातावरण से पूर्ण परिचित है।

“धाम धरीक निवारिये कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर कमाल तरु मिलत मालती कुंज।।”

हे प्रियतम एक घड़ी के लिए कड़ी धूप का समय बिता लो। यमुना के किनारे दृष्टिगत होने वाले तमाल वृक्ष के निकट सुंदर भ्रमरों से युक्त मालती कुंज है, वहीं हमारे साथ विहार करो। यह व्यंगार्थ पूर्ण उक्ति एक विदग्धा स्वयंदूती की नायक के प्रति है। बिहारी सतसई में अन्यत्र भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।

जिस विलासी युग में रीति-काव्य की सर्जना हुई है उसमें मदपान के रोचक प्रसंगों का प्राप्त होना सहज संभाव्य है। स्वयं वात्सायन ने भी अपने 'कामसूत्र' में सुरतारंभ के समय मद्यपान का संकेत दिया है। सतसई में मद्यपान का उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होता है। इसका एक नमूना इस प्रकार है -

“हंसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि-बलकि बोलति बचन ललकि-ललकि जपराति।।”

सखियों ने नवोढ़ा नायिका को शराब पिलाकर मदोन्मत कर दिया है और नायक को उसके पास भेजा है। वह नशे की झोंक में हंस-हंस कर चारों तरफ देखती है। बहक-बहककर बोलती है, तथा उमंग के साथ निर्लज्ज होकर नायक से लिपट जाती है।

अन्य

इसके अतिरिक्त बिहारी ने संयोग-शृंगार के अंतर्गत अनेक अन्य मुद्राओं का भी वर्णन किया है। जैसे -- आँख मिचौली, सुरतारंभ, सुरतांत, रति-वर्णन, विपरीत-रति आदि। निम्न दोहे से बिहारी के तत्संबंधी विचार स्पष्ट हो जाते हैं --

“चमक, तमक हँसी, ससक मसक झपट लपटानि।
ए जोहि रति सो रति मुकति और मुकति अति हानि।।”

अर्थात् जिस रति में चमक, तमक, झपट हो वही रति मुक्ति के समान आनंददायिनी है। अन्य दूसरी मुक्ति अनिष्ट कारिणी है।

निष्कर्षतः बिहारी का संयोग शृंगार-वर्णन अत्यंत प्रभावोत्पादक एवं हृदयस्पर्शी बन पड़ा है।

(२) विप्रलंभ-शृंगार

विश्व वाङ्मय में संयोग की अपेक्षा वियोग को अधिक महत्व दिया गया है। रीतिकाल में यद्यपि संयोग शृंगार की रचनाएँ संख्या में अधिक प्राप्त होती हैं फिर भी विप्रलंभ की अपेक्षा नहीं हुई है। हाँ यह अवश्य है कि संयोग शृंगार के निरूपण में जैसी प्रगाढ़ तन्मयता और कलात्मक अनुभूति देखने को मिलती है जैसे विप्रलंभ में नहीं। विप्रलंभ के अधिकांश चित्र मानवीय संवेदना की सदबुद्धि में उतने सहायक नहीं लगते जितने वस्तु व्यंजना के विस्तार में।

आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल को वियोग के नाम पर वस्तु व्यंजना से सीधे खिलवाड़ करना प्रिय नहीं, उन्होंने रीतिकालीन विरह ताप आदि की अतिरंजनापूर्ण चित्रण की स्थान-स्थान पर शिकायत की है। उनका कथन है कि “काव्य की इस भोगभूमि में दुखात्मक भावों को बेधड़क चले आने की इजाजत नहीं। आगे के पहले उन्हें प्रेम का पूरा शासन स्वीकार करना पड़ता है। पड़ोसियों को नाकों दम करने वाले, माद्य में लू चलने वाले विरह ताप की अपेक्षा बीच-बीच में छानेवाली आशा, सुख की शीतलता अधिक ही मानी गई है।” ‘रस मीमांसा’ ‘आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल’।

साहित्य दर्पणकार ने विप्रलंभ श्रृंगार की परिभाषा करते हुए लिखा है :-

“जहाँ अनुराग अति उत्कट हो परंतु प्रिय समागम नहीं होता उसे विप्रलंभ कहते हैं।”
उन्होंने इसके चार भेद बनाए हैं - १) पूर्वराग २) मान ३) प्रवास ४) करुणा।

(१) पूर्वराग

प्रिय का संयोग होने के पूर्व उसके गुण, श्रवण, दर्शन आदि के कारण उससे मिलने की अभिलाषा पूरा न होने से जो तड़प या वेदना होती है उसे ‘पूर्वराग’ कहते हैं। बिहारी के पूर्वानुराग के संबंध में कुछ आलोचकों का कथन है कि न तो इसमें आवेगात्मक तीव्रता है और न ही संवेदनात्मक गहराई उसका एक कारण यह है कि पूर्वराग में उत्कट अभिलाषा मात्र ही रहता है, अतः वेदना का विस्तार देखने की वहाँ जगह नहीं रहती। सतसई में कई स्थल ऐसे मिल जाते हैं जहाँ कवि भावों के आवेग के चित्रण में अपनी गंभीर संवेदना का भी परिचय दिया है। यथा एक उदाहरण :-

“झटकि चढ़ति उतरति अटा नेकुन थाकति देह।

भई रहित नर को बटा अटकी नागर नेहा।।”

इसमें नायिका के पूर्वराग की दशा का वर्णन है। नायिका चतुर नायक के प्रेम में अटकी-अटकी हुई नट का बट्टा बनी रहती है। वह नायक के लिए शीघ्रता से अट्टालिका पर चढ़ती है और उतरती है। उसका शरीर इस क्रिया में थोड़ा भी नहीं थकता। प्रेम की तन्मयता का यह चित्र अद्वितीय होने के साथ ही मानसिक स्थिति के उस स्वरूप का भी बोधक है जिसमें वासना की उष्ण गंध का पता नहीं चलता।

पूर्वराग अंतर्गत बिहारी ने विरह की दस दशाओं का भी वर्णन किया है। ये दस दशाएँ इस प्रकार हैं -- अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण, कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता एवं मरण।

(२) मान

मान की अवस्था में नायक-नायिका में संयोग नहीं रहता। दोनों के मानसिक अवस्था के वैषम्य के कारण मिलन प्रायः नहीं हो पाता। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसके दो प्रकार बतलाए हैं -- १) प्रणयमान २) ईर्ष्यामान।

१. प्रणयमान

प्रणयमान में मान की स्थिति अधिक गंभीर नहीं होती। इसमें मान का मात्र स्वांग ही रचा जाता है और वह मान किंचित स्मित की झलक से तिरोहित हो जाता है। बिहारी के प्रणयमान के चित्र अधिक संवेदनात्मक नहीं हो पाए हैं। ऐसे चित्रों में मान की एक हल्की झलक भर दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए निम्न दोहा द्रष्टव्य है :-

“रुख रुखे मिस रोष मुख कहति सू खौं हैं बेन।

रुखे कैसे होत ये नेह चिकने नैन।।”

नायिका का मान छुड़ाते हुए सखी कहती है कि यद्यपि रुखे ढंग से कृत्रिम क्रोध मुख पर धारण करते हुए तुम रुखे वचन बोलती हो किंतु नेत्र कैसे रुखे हो सकते हैं। क्योंकि ये तो प्रेम से स्निग्ध हैं। इसमें 'त्रियरोष' ही व्यंजित हो रहा है। नायिका का मान हृदय से नहीं है, उसके मानस का अनुराग नेत्रों से छलक रहा है।

२. ईर्ष्यामानः

यद्यपि ईर्ष्यामान में बिहारी की दृष्टि अधिक जमी हुई है। फिर भी प्रेमी के सरस एवं हृदयग्राही चित्रों की उद्भावना इनके अंतर्गत की नहीं हो पायी है। बिहारी के ईर्ष्यामान की अधिक नायिकाएँ खंडित ही हैं। पर यहाँ खंडित की मानसिक अवस्था के सूक्ष्म निरीक्षण का अभाव प्रायः खटकता है। हाँ यदि बाह्य रति चित्रों के वर्णन से कवि को अवकाश मिलता निश्चय ही इसके चित्र अधिक संवेदनात्मक और हृदयग्राही होते। पर वह दंतक्षत भाल के महावर अंक में वेणी और माला के दाग आँखों की लालिमा अधरों के अंजन पलकों की पीक आदि देखने में ही संलग्न रहा। दूसरी ओर देने की उसकी रुचि न थी और न फुर्सत। उदाहरण के लिए :-

“फलगु पीक अंजन अधर धरे महावर भाल।
आजु मिले सो भली करी भले बनै हों लाल।।”

सतसई में इसी प्रकार की खंडिता नायिकाओं की व्यंग गर्भित उक्तियों में ईर्ष्या मान की खोज आसानी से की जा सकती है।

३. प्रवासः

अपनी प्रियतमा को त्याग कर नायक जब अन्यत्र चला जाता है तो वह प्रवास कहा जाता है। प्रवास का चित्रण पूरी श्रृंगारिक परंपरा के अंतर्गत अत्यंत हृदयद्रावक रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुनः जो कवि का ग्राहिता एवं संवेदनशीलता को लेकर कल्पना प्रवण उक्तियों में अधिक डूबते उतराते हैं, उनकी रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक हृदय संवेद्य एवं संप्रेषणीय बन सकी हैं। प्रवास के अंतर्गत बिहारी ने प्रोषित पतिका, आगत पतिका आदि नायिकाओं के आधार पर वियोग की मार्मिक अनुभूतियों का मार्मिक वर्णन किया है। प्रस्थान काल, वियोग काल एवं आगमन काल की व्यंजना से बिहारी की सूक्ष्म दृष्टि का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने प्रवास में उद्वेग संताप और औत्सुक्य तीनों भावों की उक्त तीन प्रकार की वियागिनी नायिकाओं के आधार पर रमणीय अभिव्यक्ति की है। इसका चित्रण सतसई में निम्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है।

संबंध भावनाः

“जहाँ-जहाँ ठाढ़ौ लख्यो स्यामु सुभाग सिर मौरु।
बिनहू उन चितु गहि रहतु दृगनु अजौ वह ठौरु।।”

गोपियों ने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर जिन-जिन स्थानों पर उन्हें खड़ा देखा था उन स्थानों में उनके संसर्ग से ऐसा आकर्षण उत्पन्न हो गया है कि आज भी उनके न रहने पर वे ऐसे प्रिय मालूम होते हैं कि क्षण भर के श्याम सुंदर के भाव में मग्न होकर उनके नेत्र लगे रहते हैं।

औत्सुक्य-व्यंजना:

नायक परदेश से आकर द्वारा पर स्वजनों एवं बूढ़ों से मिलने लगा अतः नायिका के पास पहुँचने में विलंब हुआ। यह विलंब की घड़ी नायिका के लिए ब्रह्मा की घड़ी जैसे लगने लगी :-

“रहे बरोटे में मिलत पिऊ प्रानन के ईसु।
आवत-आवत की भई विधि की घरी घरीसु।।”

कृशता एवं ताप-निरूपण:

कृशता एवं ताप निरूपण में बिहारी ने ऊहात्मकता का प्रयोग किया है। रीतिकाल में ही नहीं यह प्रभाव फारसी एवं प्राकृत कवियों में भी प्राप्त होता है। बिहारी की नायिका विरह में इतनी दुर्बल हो गई है कि :-

“इत आवति चलि जात उत चली छः सातक हाथ।
चढ़ि हिंडारे सी रहे लगो उसासनि साथ।।”
अब ताप का एक चित्र :-
“औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरनि बिललात।
विचहिँ सूखि गुलाब गों छीटौँ छुई न गात।।”

विरह से तत्प नायिका को देख सखी ने नायिका के ऊपर गुलाब जल की सीसी उड़ेल दी परंतु ताप की अधिकता से वह गुलाब जल बीच में ही सूख गया। वह नायिका को स्पर्श तक न कर सका।

संदेश-प्रेषण:

दूत अथवा दूती द्वारा संदेश प्रेषण की परंपरा बहुत पुरानी है। संस्कृत साहित्य से ही यह परंपरा चली आ रही है। रीतिकाल में भी कवियों ने इसका भरपूर प्रयोग किया है। बिहारी ने जहाँ संदेश-प्रेषण की चर्चा की है वहाँ का औचित्य शालीनता और पर्याप्त गहराई लिए हैं। उदाहरण के लिए :-

“कागद पर लिखत न बनत कहत संदेश लजात।
कहिहैं सब तेरो हियो मेरे हिय की बात।।”

विरहणी कंप, स्वेद आदि भावों के कारण संदेश नहीं लिख पाती और जबानी संदेश कहने में वह लजाती है। अंत में नायिका पत्र में यह लिख देती है कि हे प्रिय तुम्हारा हृदय ही मेरे हृदय की बात कह देना। यहाँ अत्यंत भाव पूर्ण और मार्मिक चित्रण बन पड़ा है।

मानसिक दशा का मार्मिक निरूपण:

प्रोषितपतिका नायिकाओं की मार्मिक दशा का विश्लेषण करते समय बिहारी ने कहीं-कहीं नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। ये स्थल बहुत ही मार्मिक बन पड़े हैं। जैसे-



बिहारी की काव्य कला

मनोभावों को व्यक्त करने के लिए भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस भाषा की व्यंजना शक्ति और उसका शब्दकोष जितना ही समृद्ध होगा, वह भाषा उतनी ही प्रौढ़ और साहित्यिक गरिमा से संवलित होगी। इस दृष्टि से मध्य युग की भाषा ब्रजभाषा थी और उसका परिष्कार और विस्तार निरंतर विगत कई शताब्दियों तक होता रहा। रीतिकाल तक ब्रजभाषा निश्चय ही पर्याप्त समृद्ध और मृसण भाव व्यंजना में पूर्ण समर्थ हो चुकी थी। मध्यकाल में ब्रजभाषा में काव्य रचना करना गौरव की बात थी।

बिहारी की भाषा रीतिकाल के अन्य कवियों की भाषा से सर्वथा भिन्न और अपनी विशिष्टता लिए हुए है। यही कारण है कि उनकी भाषा-शैली का बहुत अनुकरण हुआ लेकिन उस पर बिहारी की मुहर न लग सकी। बिहारी की भाषा के अंधानुकरण को लक्ष्य करते हुए आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है “जहाँ तक शब्दों की कारीगरी वाग्वैदग्ध ये संबंध है -- वहीं तक अनुकरण का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है पर भावों का वह सुंदर विधान चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण भाषा का वह सौष्ठव संचारियों की वह सुंदर व्यंजना इस सतसई में कहाँ।” शुक्ल जी ने यह बात ‘शृंगार सतसई’ को लक्ष्य कर कहा है। बिहारी की भाषा पर विचार करते हुए रत्नाकर जी ने लिखा है “बिहारी ने अपने काव्य में पदों का प्रयोग कैसा समझबूझकर किया है, और प्रयोग वैषम्य तथा उच्छृंखलता से अपनी भाषा को कैसे बचाए रखा।”

-- (“कविवर बिहारी - जगन्नाथदास रत्नाकर”)

वस्तुतः बिहारी की भाषा को देखने से यह स्पष्टतः आभास मिल जाता है कि उन्होंने स्वीकृत ब्रजभाषा की कुछ नियमावलियाँ बनाई थी, पर किसी प्रकार लिखित उल्लेख न होने के कारण साहित्यिक ब्रजभाषा के व्याकरण को कोई रूप खड़ा न हो सका। बिहारी की भाषा के संबंध में जो तथ्यपरक निष्कर्ष आचार्य शुक्ल ने निकाला है वह आज भी सत्य है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। सामान्यतया बिहारी की भाषा में निम्नांकित विशेषताओं के दर्शन होते हैं :-

वर्णमैत्री:

बिहारी की भाषा में वर्ण-मैत्री जगह-जगह पर मिलती है। उन्होंने नार्दान्वति (युनिटी ऑफ साउंड) की रक्षा के लिए ऐसे मधुर और कोमल वर्णों की योजना की है, जो एक विशिष्ट लय के साथ रागात्मकता का सहज भाव से सृजन करते हैं। वस्तुतः शृंगारिक परिवेश में शब्दों एवं वर्णों का सुदृढ़ गुम्फन वही कलाकर कर सकता है जो भाषा का पंडित हो और उसकी नाड़ी को ठीक से पहचानने की क्षमता रखता हो। बिहारी के निश्चय ही निरर्थक वर्णों के प्रयोग से बचते हुए ऐसी सार्थक और सधी हुई शब्दावली (डिक्शन) का प्रयोग किया है कि वह कहीं भी पैबंद और ऊपर से जाड़ी हुई नहीं प्रतीत होती है।

उदाहरणार्थ :-

“रस सिंगार मंजनु किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजन रंजन हूँ बिना खंजन गंजन नैन।।”

बिहारी ने ब्रजभाषा के सहज लावण्य निखारने में अपनी प्रतिभा-प्रगल्भता का उत्तम विनियोग किया है। उनकी रचनाओं में वर्णों की सुष्ठु योजना अर्थ की सहज दीप्ति के स्थान-स्थान पर जगमगा उठी है। जहाँ नाद-सौन्दर्य का विशेष आग्रह नहीं है, वहाँ भी अर्थगत चमत्कार के कारण दोहे में एक विशेष आकर्षण उत्पन्न हो गया है। जैसे :-

“सायक सम मादक नयन, रंगें त्रिविध रंग गात।
झखौं विलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।।”

कहीं-कहीं वर्ण-मैत्री का विधान पुरुष वर्णों की सहज आवृत्तियों पर भी हुआ है पर वहाँ भी छंद में चमत्कार की मात्रा कम नहीं हुई है।

रीतिकाल में पद्माकर और देव की चर्चा उनके निरर्थक वर्ण-मैत्री और नाद-झंकाति के संबंध में की जाती है पर बिहारी निरर्थक वर्ण-प्रयोग से सर्वत्र मुक्त हैं। उनकी वर्ण-मैत्री में संगीतात्मक लय का भी दर्शन होता है। नाद की सहज मधुरिमा भी प्राप्त होती है। संगीतात्मक लय की दृष्टि से निम्न दोहा द्रष्टव्य है :-

“छला छबिले जाल को नवल नह लहि नारि।
चूँबति, चाहति, लाई उर पहिरति धरति उतारि।।”

स्वरों के ऐसे उतार चढ़ाव वाले दोहे बिहारी में अनेक हैं जो विशिष्ट मस्ती के साथ आनन्द की धारा में श्रृंगार-रस के प्रेमी पाठकों को निमंत्रित कर देते हैं।

१. शब्द-मैत्री:

उपयुक्त शब्दों के कलात्मक चयन द्वारा बिहारी ने शब्द-मैत्री का पूर्ण निर्वाह अपने दाहों में किया है। शब्द-मैत्री के साथ ही अर्थ की विशिष्ट व्यंजना भी कवि का मुख्य उद्देश्य है। कवि ने यमकालंकार के अंतर्गत शब्दों के संतुलित प्रयोगों पर अपनी दृष्टि इतनी जमाई है कि काव्य का सहज साध्य स्वतःप्रस्फुटित हो गया है। यमक के एक श्रेष्ठ उदाहरण से इस कथन की सार्थकता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है :-

“लग्यौ सुमनु हैहैं सुफलु, आतप रोसु निकारि।
बारी, बारी आपनी सींच, सुहृदयता बारि।।”

इस दोहा में ‘सुमन’ और ‘सुफल’ से जहाँ ‘श्लेष’ का चमत्कार प्रदर्शित है वहीं ‘बारी’ ‘बारी’ में यमक की छटा भी मौजूद है। यों पूरा छंद श्लेष के अर्थ से पूर्णतया चमत्कृत हो उठा है। इसमें एक अर्थ भोली स्त्री (बारी) और दूसरा अर्थ ‘माली’ है।

उक्त छंद में नायिका के प्रति सखी द्वारा जिस व्यंग्य का भाव संकेत है वह कार्य के शब्द मैत्री गत नैपुण्य का स्पष्ट बोधक है, इस प्रकार के छंदों में एक ओर जहाँ शब्द लालित्य की प्रधानता है वहीं शब्द-व्यंजना का भी पूर्ण निर्वाह हुआ है। किंतु जहाँ चमत्कारवादी दृष्टि है वहाँ यमक द्वारा जमकर शब्द-मैत्री के गुणों का उद्घाटन किया गया है। यथा: -

“बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ये नैन।।”

३. सामासिकता:

मुक्तक-काव्य की मुख्य विशेषता भाषा की सामासिकता अथवा संक्षिप्ता (ब्रेवीटी) है। मुक्तक रचना में कल्पना एवं भावना की विस्तृति की गुंजाइश बहुत कम रहती है। अतः भाषा के सामासिक गुणों के प्रयोग में जो मुक्तककार जितना ही कुशल होगा उसकी वाणी उतनी ही लोकप्रियता प्राप्त कर सकेगी। श्रृंगारिक मुक्तक कवियों में बिहारी अने सामासिक गुणों के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हैं। पुनः ब्रजभाषा में समस्त पदों की योजना अपने आप में एक महान कार्य और मौलिक प्रयास समझी जाती है। संस्कृत में लंबे-लंबे समासों के प्रयोग द्वारा भाषा प्रवाह को स्फीत किया जा सकता है, पर ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली के स्थान पर वृहद समस्त पदों का व्यवहार कवि की अद्भुत काव्य-रचना की क्षमता का परिणाम ही कहा जा सकता है। बिहारी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा समस्त पदों की ऐसी सफल रचना की है जो विरल है यथा:-

१) “विकसति-नव-मल्ली-कुसुम-निकसति-परिमल पाइ।
परसि पजारति विरह-हिय, बरसि रहे की बाई।।”

२) “चलित-ललित स्रम-स्वेद-कन कलित अरुन मुख नैन।
वन-विहार-थाकी-तरुनि-खरे थकाए नैन।।”

समास-पद्धति को ग्रहण करते हुए भी बिहारी ने भाव-गांभीर्य और अर्थ-गौरव के सामंजस्य में अपनी सारी पटुता प्रदर्शित की है। संस्कृत में ‘अर्थ-गौरव’ की दृष्टि से जिस प्रकार भारवि की चर्चा होती है और हिंदी में सूर और केशव की श्लाघा जिस अर्थ गौरव के लिए होती है, बिहारी ने भी उसी अर्थ-गौरव की मर्यादा दोहे जैसे लघुकाय छंद में अक्षुण्ण रखी है। वस्तुतः नट की कुंडली की भाँति इन्होंने छोटे से दोहे में व्यंजना के दीर्घ व्यापार को कलात्मक ढंग से समेटने या स्तुत्य या स्तुत्य प्रयास किया है।

४. व्यंजना-निरूपण:

यद्यपि बिहारी ने ‘सतसई’ में व्यंजना के शास्त्रीय निरूपण का जो प्रयत्न कहीं भी नहीं किया है क्योंकि वह लक्ष्यबद्ध काव्य है, फिर भी उनकी सरल एवं वैदग्ध्यपूर्ण उक्तियों में व्यंग्यगर्भित बातों का स्पष्ट संकेत मिलता है। काव्यशास्त्र में आचार्यों ने शब्द और अर्थ की दृष्टि से व्यंजना के दो भेद स्वीकार किए हैं :-

१) शाब्दी व्यंजना २) आर्थी व्यंजना:

बिहारी सतसई में हमें शाब्दी और आर्थी दोनों प्रकार की व्यंजनाओं के श्रेष्ठ उदाहरण मिल जाते हैं। समस्त रीतिकाल में व्यंजना और ध्वनि का प्रयोग जितना बिहारी में देखने को मिलता है, उतना अन्य कवियों में नहीं। यदि लाक्षणिक प्रयोग के वैशिष्ट्य पर विचार किया जाए, तो इस दिशा में घनानंद का प्रयास निश्चय ही बेजोड़ है।

१. शाब्दी-व्यंजना : आचार्यों ने शाब्दी व्यंजना को भी दो भागों में व्यक्त किया है (क) अभिधामूलक (ख) लक्षणामूलक

(क) अभिधामूलक : अभिधामूलक व्यंजना वहाँ होती है जहाँ एकार्थ के अर्थ की प्रतीति होती है। यथा :-

“लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जाहिं ।
गोरस चाहत फिरत है गोरस चाहत नाहिं ।।”

इस छंद में नायिका अपनी वचन चातुरी से अपना अभिप्राय दूसरों को जानने देना भी नहीं चाहती है और नायक को फटकारती हुई अपनी अनुरक्ति भी प्रकट कर देना चाहती है। यहाँ ‘गोरस’ शब्द दूध के अर्थ में तो गृहीत ही है किंतु इंद्रिय सुख बोध करने की भी व्यंजना यहाँ सुस्पष्ट है। यह सारी व्यंजना ‘गोरस’ शब्द के कारण ही है अतः इसमें अभिधामूलक शाब्दी-व्यंजना है। यहाँ नायिका का अभीष्ट व्यंग्य है। व्यंग्यार्थ यों है -- हे कृष्ण (नायक) यदि तुम गोरस की जगह इंद्रिय सुख चाहते हो तो यह स्थान इंद्रिय रस के लिए उपयुक्त नहीं है। किसी एकांत स्थल में मिलेंगे क्योंकि यहाँ सबके सामने बात खुल जाएगी।

(ख) लक्षणामूलक शाब्दी-व्यंजना - इसमें किसी प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है। अतः इसका संबंध प्रयोजन वाली लक्षणा से है। इसमें जो भी लक्षण शब्द प्रयुक्त होता है उसमें किसी न किसी व्यंग्यभाव की व्याप्ति होती है। कभी यह व्यंग्यार्थ स्पष्ट रहता है और कभी-कभी इसमें सान्निहित व्यंग्यार्थ की प्रतीति ठिक से या जल्दी से नहीं हो पाती। इस दृष्टि से आचार्यों ने इसके दो भेद किए हैं (१) अगूढ़ व्यंग्या (२) गूढ़ व्यंग्या।

(१) अगूढ़ व्यंग्या में व्यंग्यार्थ इतना स्पष्ट होता है कि अभीष्ट प्रयोजन तक पहुँचने में कठिनाई नहीं होती। सतसई में प्रयुक्त एक अगूढ़ व्यंग्या का उदाहरण :-

“प्राण प्रिया हिय में बसै, नख रेखा ससि भाल ।
भलौ दिखयौ आइ, यह, हरि हर-रूप रसाल ।।”

यहाँ ‘भलो’ में जहाँ विपरीत लक्षणा में ‘बुरा’ अर्थ द्योतिक है वहीं प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ यह है कि नायक अत्यंत लंपट है और उसमें रसिकता का पूर्ण भाव है। नख रेख तो प्रायः वक्षस्थल पर होती है, पर यहाँ वह भाल पर विराजमान है। अतः कवि का तात्पर्य यह लक्षित होता है कि नायक ने आज विपरीत रति किया है और वह इतना गंवार है कि रति-समय उसने नखरेखा वक्ष की बजाय भाल पर अंकित किया है।

(२) गूढ़-व्यंग्या में कवि ने तीखे व्यंग्य के प्रयोग द्वारा अपने अर्थ-गौरव की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। गूढ़ व्यंग्या में अगूढ़ व्यंग्या की विपरीत स्थिति होती है। यहाँ कवि के गूढ़ाशय को जानने के लिए अधिक श्रम की अपेक्षा होती है। यह अपनी अस्पष्टता के कारण अधिक व्यंजक भी होती है। इस प्रकार के प्रयोग में कवि की आयस-साध्य कुशलता पूर्णतया लक्षित होती है। गूढ़ व्यंग्या का एक नमूना दृष्टव्य है :-

“छूटे छुड़ावै जगत तें सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बाँधे नील छबीले बार।।”

यह उक्ति नायिका के खुल बालों के संबंध में है। यहाँ कवि का अभिप्राय है कि जब ये बाल खुले रहते हैं तो उस समय इनको देखनेवाले सांसारिक कार्यों को भूल जाते हैं और नायिका जब अपने खुले बालों को बांधती है तो बांधते समय नायक का मन भी उसी के साथ बंध जाता है। दूसरी व्याजस्तुति से गूढ़ व्यंग्या यह है कि नायिका वस्तुतः अत्यंत सुंदर है और वह अपने नीले घने रेशम जैसे बालों में नायक के मन को फंसा कर मोह की एक अर्निवचनीय स्थिति पैदा कर देती है। यहाँ काले बालों द्वारा नायक की चेतना को हरण करने की मार्मिक उद्भावना की गई है।

(२) आर्थी-व्यंजना :-

‘बिहारी सतसई’ में आर्थी व्यंजना के उत्कृष्ट से उदाहरण मिल जाते हैं, यों बिहारी के पूर्व केशव और भूषण आदि की भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं, पर व्यंजना चलित उक्तियों की दृष्टि से उनका महत्व प्रायः नगण्य है। बिहारी ने आर्थी व्यंजना के दस भेदों को भी ग्रहण किया है। इनके वक्तृ वैशिष्ट्योत्पन्न संभवा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :-

“जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।
तेहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति।।”

इस छंद में कवि कल्पित दूती वक्ता के रूप में वर्णित है। वह नायक के विरहिणी की दशा का निवेदन कर रही है। वह कर रही है कि जिस उसीर की रावटी में जेष्ठ मास की दुपहरी में भी माघ की सी ठंडक लगती है उसी में वह नायिका गर्मी के कारण संतप्त हो रही है। इस कथन में नायक की निष्ठुरता का व्यंग्य इंगित है। इसमें यह भी बताया गया है कि नायक के वियोग में उसकी बड़ी चिंतनीय दशा है। अब नायक को उससे अवश्य मिलना चाहिए। यह व्यंग्यार्थ वास्तव में वाच्य संभवा ही है। एक और उदाहरण लक्ष्य संभवा का भी द्रष्टव्य है :-

“पावत झरतैं मेह झर दाहक दुसह विसेखि।
दहै देह बाके परस, याहि दृगन ही देखि।।”

इसमें लक्ष्यार्थ से व्यंजना का संकेत है। यहाँ नायिका अपनी सखी से कह रही है कि :- ‘हे सखी, पावक की लपट से वर्षा की झड़ी अधिक कष्टप्रद है क्योंकि अग्नि की लपट तो स्पर्श करने पर जलाती है पर ये वर्षा की बूंदें देखने मात्र से ही संतप्त करती हैं। लक्षणा शक्ति द्वारा इसका अर्थ यह होगा कि विरहिणी वर्षा की बूंदों को देखने में असमर्थ है, उससे उसे असह्य पीड़ा हो रही है। इसमें व्यंग्य यह है कि नायिका उद्दीपक वस्तुओं से अत्यंत दुःखित है। अतएव यह लक्ष्य संभवा व्यंग्य का एक उत्तम उदाहरण है।

जहाँ एक व्यंग्य के अंतर्गत दूसरा व्यंग्य भी सान्निहित रहता है वहाँ व्यंग्य संभवा व्यंजना होती है। वस्तुतः व्यंग्य गर्भित व्यंग्य की योजना वही कवि कर सकता है जो भाषा प्रवीण हो और वाणी के सूक्ष्म मर्म को समझता हो। इसमें किंचित संदेह नहीं कि बिहारी व्यंग्यात्मक उक्तियों के प्रयोग में तत्कालीन अन्य कवियों की तुलना में श्रेष्ठतर है। बिहारी ने व्यंजना के प्रभविष्णुता को समझकर ही उसकी सूक्ष्मता एवं गूढ़ व्यापारों का मार्मिक उद्घाटन किया है। उन्होंने एक व्यंग्य के अंतर्गत दूसरे व्यंग्य को ऐसी निपुणता के साथ नियोजित किया है उसे मर्मी और काव्य के पारखी ही समझ सकते हैं। बौद्धव्य वैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य संभवा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:-

“बाल कहाँ लाली भई लोचन कोयन माँह।

लाल तिहार दृगन की परि दृगन में छाँह।।”

इसमें सठ नायक एवं खंडिता नायिका के संदर्भ में बड़ी कलात्मक उक्ति प्रयुक्त है। नायक रात भर की रति नायिका के साथ रमण करता रहा और प्रातःकाल अपनी पत्नी के पास आया है। आने पर वह देखता है कि पत्नी की आँखें क्रोध और रात्रि के जागरण से रक्त हो गई हैं। वह चाटुकारिता भरी वाणी में उसे प्रसन्न करने के लिए कहता है -- हे बाले, तुम्हारी इन आँखों में लालिमा कहाँ से आ गई। नायक के इस चतुराई को ताड़कर नायिका का व्यंग्य भरा उत्तर सराहनीय है। वह कहती है -- हे प्रियतमा! तुम्हारी आँखों की लालिमा ही मेरी आँखों में छा गई है। इस कथन से नायक नायिका के व्यंग्य कथन को समझ लेता है कि 'तुमने तो भी रातभर अन्य नायिका के पास रमण किया है और मैं यहाँ बैठी रात भर जाग कर तुम्हारा रास्ता देखती रही। ऐसी स्थिति में तुम मुझे भुलावा क्यों दे रहे हो। दोष तो तुम्हारा ही है। इसमें दूसरा व्यंग्य यह है कि तुम व्यभिचारी के अतिरिक्त लंपट और धूर्त भी हो यहाँ नायक बौद्धव्य है और वह नायिका के समस्त व्यंग्यार्थ को समझ लेता है। अतः बौद्धव्य के कारण एक व्यंग्य से दूसरा व्यंग्य भी आसानी से निकल रहा है।

(५) भाषा लाक्षणिकता:

बिहारी में व्यंजना और ध्वनि का जितना आग्रह है उतना भाषागत लाक्षणिकता का नहीं है। हाँ लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से रीति मुक्त घनानंद का स्थान सर्वोपरि है उन्होंने अपनी वाणी में लाक्षणिकता का जैसा जाल बिछाया है उसे देखकर लगता है कि जैसे संस्कृत वाले भी उनकी अपेक्षा पीछे रह गए हैं। यह अवश्य है कि आधुनिक कवियों में प्रसाद, पंत् और निराला आदि ने इस दौर में और भी आगे निकलने का प्रयास किया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि बिहारी कि बिहारी ने लाक्षणिक प्रयोगों की आजमाइश नहीं की है। उन्होंने भी लाक्षधिकता का चमत्कार यथा संभव प्रदर्शित किया है :-

“गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।

हूठ्यो दे इठलाइ दृग करे कपोलन सुवार।।

गोरी गदकारी परै हंसत कपोलन गाड़।

कैसी लसति गँवारि यह सुन किरवा की आड़।।”

उक्त दोहे में गदरान और गदकारी जैसे लाक्षणिक प्रयोगों के कारण एक विचित्र प्रकार स्वारस्य उत्पन्न हो गया है। प्रायः गदराने का प्रयोग अपरिपक्व अवस्था को प्राप्त फलों के लिए होता

है। यहाँ पर कवि ने इसका आशय युवावस्था प्राप्त होने वाले शरीर से किया है। इसी प्रकार गदकारी शब्द नायिका के मांसल शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः यह कथन अतिरंजना पूर्ण न होगा कि बिहारी ने प्रायः ऐसे शब्दों का चयन किया है जो श्रृंगार के परिवेश में एक विशेष रागबोधात्मक स्थिति का निर्माण करते हैं। पर बिना भाषा प्रयोग के औचित्य को जाने-बूझे उक्त स्थिति का निर्माण करते हैं। सतसई में कुछ स्थल ऐसे भी देखने के लिए मिलते हैं जिसमें भाषा की दृष्टि से विरोध मूलक प्रवृत्ति का उत्तम रूप व्यंजित हुआ है। उदाहरणार्थ :-

“तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।

अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।।”

यहाँ अनबूड़े और बूड़े में मुख्यार्थ की बाधा है। अतः लक्षणशक्ति से अनबूड़े का अर्थ है जो ठीक से प्रविष्ट नहीं हुए हैं और बूड़े का अर्थ नष्ट होना है। दूसरे बूड़े का अर्थ लिप्त होना या तल्लीन होना है। इसमें विरोधाभास अलंकार का चमत्कार भी सराहनीय है। यहाँ बिहारी ने लाक्षणिकता का ऐसा प्रगाढ़ चित्र चढ़ा दिया है जिससे पूरा का पूरा वाक्य एक विशिष्ट चमक से देदीप्यमान हो उठा है।

(६) लोकोक्ति एवं मुहावरे:

आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल ने बिहारी की भाषा को चलती होने पर भी साहित्यिक माना है और बताया है कि इनकी वाक्य रचना सुव्यवस्थित और शब्द रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। इसी से बिहारी के जोड़ की भाषा हमें अन्य कवियों में नहीं मिलती। बिहारी का रचना काल मुगलकाल माना जाता है और मुगलकाल की भाषा फारसी थी। इसी दृष्टि से बिहारी की भाषा पर फारसी का प्रभाव बहुत है और लोकोक्तियों और मुहावरों द्वारा उन्होंने भाषागत जो कौशल और चमत्कार प्रदर्शित किया है वह बहुत कुछ फारसी काव्य-परंपरा की ही अमिट छाप कहा जा सकता है।

बिहारी ने मुहावरों की तुलना में लोकोक्तियों का प्रयोग कम किया है। बिहारी के मुहावरों पर विदेशी छाप भले ही लगी हो, किंतु लोकोक्तियों के प्रयोग में उन्होंने जन-जीवन के बीच प्रचलित व्यावहारिक बातों का परिचय अधिक दिया है। इनकी अधिकतर लोकोक्तियाँ ऐसी हैं जो किसी मार्मिक प्रसंग की बड़ी तीखी व्यंजना करती हैं :-

“वाही दिन तै न मिटुयौ मानु, कलह कौ भूलू।

भलै पधारे पाहूने हैं, गुड़हल को फूल।।”

एक लोकोक्ति है कि जहाँ गुड़हल का फूल होता है वहाँ लड़ाई होती है। इसी उक्ति को लेकर इस दोहे की रचना हुई है।

यहाँ किसी व्यक्ति के दंपत्ति के यहाँ आने का प्रयोजन है जिसके चले जाने पर दंपत्ति में परस्पर कलह हुआ।

इसी प्रकार ‘बचै न बड़ी सलीलहू चील घासुक मांस’ तथा ‘जीभ निबौरी क्यों लमें, बौरी चाखि अंगूर’ आदि लोकोक्तियों की भाँति मुहावरों का भी बिहारी ने सफलता से प्रयोग किया है।

वस्तुतः मुहावरे किसी भाषा में उसकी अभिव्यंजना शक्ति के संवर्धन में पूर्ण योग देते हैं। उदाहरण के लिए 'गले पड़ना' मुहावरे को लेकर बिहारी ने जैसी कलात्मक उक्ति विन्यस्त की है वह द्रष्टव्यः-

“जनमु जलधि, पानि पु विमल, भौ जग आधु अपार।
रहै गुनी है गर पर्यौ, भलै न मुक्ताहार।।”

इसमें मुक्ताहार के संबंध में कवि का कथन है कि -- इसका जन्म तो समुद्र में हुआ है अर्थात् बड़े कुल का है, इसकी कांति भी निर्मल है, पर गुणी होकर भी यह गले पड़ा रहता है यह अच्छा नहीं है। इसी प्रकार अन्य बहुत से मुहावरों का प्रयोग बिहारी सतसई में सफलतापूर्वक हुआ है।

(७) शब्द-भंडारः

ब्रजभाषा दीर्घकाल से काव्य-भाषा के रूप में गृहीत होती रही। इस कारण इसका शब्द भंडार हिंदी की अन्य विभाषाओं की तुलना में निश्चय ही प्रचुर और समृद्ध है। बिहारी का शब्द-भंडार देव तथा पद्माकर के अतिरिक्त अन्य रीतिकवियों की अपेक्षा निश्चय ही अधिक है। सुविधानुसार बिहारी के समस्त शब्द भंडार को 'ब्रजभाषा' के अलावा चार मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है -
- (१) प्राकृत एवं अपभ्रंश (२) संस्कृत (३) अरबी, फारसी तथा उर्दू (४) बुंदेलखंडी तथा अवधी।

१) प्राकृत एवं अपभ्रंश :

बिहारी ने सतसई की रचना यद्यपि शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में की है तथापि उसमें प्राकृत एवं अपभ्रंश के भी शब्द यत्र-तत्र मिलते हैं। ब्रजभाषा काव्य मर्मज्ञ बाबू जगन्नाथदास रत्नकार का अनुमान है कि बिहारी संस्कृत के पंडित होने के साथ-साथ प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों तथा काव्यों के अच्छे ज्ञात थे। सतसई में अनेक स्थलों पर प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रयोग लक्षित होते हैं जैसे गैन (गगन, गअन, गयन, गैन) नै (नदी, नई, नइ, नै) लोयन (लोचन, लोअन, लोयन) दीठि (दृष्टि, दिट्टी, दीठ, दिठि) आदि। पुनः बिहारी ने अपनी सतसई में प्राकृत एवं अपभ्रंश की उक्तियों को जिस कौशल के साथ ग्रहण किया है उससे भी विदित होता है कि वे प्राकृत एवं अपभ्रंश की गाथाओं से पूर्ण परिचित थे।

२) संस्कृतः

सतसई (बिहारी सतसई) में अन्य भाषाओं की तुलना में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। बिहारी ने यथास्थान तत्सम, अर्धतत्सम एवं तद्भव तीनों प्रकार के शब्दों की बहुलता है। बिहारी ने यथास्थान तत्सम, अर्धतत्सम एवं तद्भव तीनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे तत्सम शब्द असि, कपोल, मकरावृत्ति कोकनद प्रभा, मकरन्द, निगम, चिबुक, सरस आदि। अर्धतत्सम शब्द - अग्नि, अरक, असन, स्वारथ, विकासु, सहाई, दुति, बसन, चितु दीरघ आदि। तद्भव शब्द - घरीक, अनंत, उजास घाम, जमाई, जोत, जोहन मीति, दीठि, कोर, निसाँक, पच्छी, सिंगार परिस, साँवल, पिय आदि।

३) अरबी, फारसी तथा उर्दू :

भारत में मुगल संस्कृति के प्रचार और प्रसार के साथ ही यहाँ का भाषा और साहित्य भी निरंतर प्रभावित होता रहा । इस संबंध में आचार्य भिखारीदास का यह कथन पूर्ण संकेत कर रहा है कि संस्कृत तथा फारसी भाषा का ग्रहण उसी सीमा में होना चाहिए, जिसे सहज रूप में ब्रजभाषा आत्मसात कर ले । बिहारी द्वारा प्रयुक्त कुछ अरबी तथा फारसी के शब्द इस प्रकार हैं - कजाकी हमाम, गुलुक, नाजुक, गुमान दरबार, नाहक, साबित फौज, इजाफा, अदब, कबूल, सलीब, नेजा, हद हजार आदि

४) बुंदेलखंडी तथा अवधी:

बिहारी सतसई में अवधी की अपेक्षा बुंदेलखंडी का मेल अधिक हुआ है । इसका कारण यह है कि तारुण्यावस्था के पूर्व का जीवन बिहारी ने अपनी जन्मभूमि ग्वालियर के अंतर्गत वसुआ गोविंदपुर ग्राम में बिताया था । अतः इसकी भाषा में यंत्र तत्र बुंदेलखंडी के भी रूप झलक जाते हैं । आचार्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि बुंदेलखंडी के प्रयोग इनमें बीसों हैं । पीछे उनमें से कुछ धड़ल्ले के साथ होने लगा । जैसे लाने (लिए) घैर (बदनामी की चर्चा) कोद (और) गीधें, बीधे, चाला (द्विरागमन आदि) । कुछ और भी शब्द हैं जिनका प्रयोग औरों ने कदाचित ही किया है जैसे - सद, सबी आदि ।

निष्कर्ष:

बिहारी सतसई में गूढ अर्थ व्यवहारों की योजना इतनी विशद है कि कभी- कभी रचनाकार के ऐसे कौशल पर गंभीरता से विचार करना पड़ता है । वस्तुतः दोहा “कर लै चूमि चढ़ाई सिर उर लगाय भुज भेटि ।

लहि पाती प्रिय की लखत बाचति धरति समेटि ॥”

प्रियतम के द्वारा प्राप्त होने वाली चिट्ठी में बड़ी उत्सुकता रहती है । उस पत्र को नायिका बड़े ध्यान के साथ अनुराग से बांचती है, उर से लगाती है अपने अंक में रखती है और बार-बार चूमती है । ऐसे छंदों में प्रेमोदक की व्यंजना द्रष्टव्य है ।

४) करुणा:

हिंदी रीतिकालीन काव्य में पूर्वराग, मान और प्रवास के ही वर्णन प्राप्त होते हैं । करुणा का चित्र बहुत की कम मिलता है । वियोग की दशा की पूर्ण विवृत्ति के लिए वियोग की दस दशाओं - अधिकतर व्याधि का ही वर्णन प्राप्त होता है । बिहारी ने भी व्याधि का ही विस्तार अधिक रखा है । कवि भरसक मरण दशा का वर्णन नहीं करते क्योंकि इसमें रसांतर होने की आशंका रहती है । अतः मरण कथित न होकर व्यंजित ही रहता है ।

सारांश रूप में बिहारी ने जहाँ विरह वर्णन को ऊहात्मक करके बिगाड़ दिया है वही प्रेम की अन्य विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन करने में अपनी व्यापक अनुभूति और निरीक्षण शक्ति का परिचय भी दिया है । वैसे तो श्रुगार वर्णन में सबसे मार्मिक और हृदय को छूने वाली विरह वर्ण ही होता है परंतु बिहारी के यहाँ इसका उलटा रूप दिखाई पड़ता है । बिहारी का संयोग श्रुगार अधिक सरस और रुचिपूर्ण है तथा विरह वर्णन उतना ही खेलवाड़ जैसा लगता है ।



बिहारी सतसई : गागर में सागर

रीतियुग कलात्मक सौंदर्य एवं कलात्मक प्रौढ़ि की दृष्टि से अपने आप में सर्वथा अप्रतिम एवं बेजोड़ माना जाता है । इस काल में सौंदर्य दीप्ति के ऐसे ऐसे चित्रों की अवतारणा हुई है कि लगता है कि सच्चे अर्थों में कला साधनकों एवं सौंदर्य उपासकों का ही युग था ।

इस काल में प्रतिनिधि कवि बिहारी की सौंदर्य चेतना का धरातल घनानंद और भक्त कवि सूरदास की तुना में उदात्त ही नहीं कहा जा सकता किंतु जिस वस्तुनिष्ठ सौंदर्य के सूक्ष्म अंकन एवं उसके वैविध्यपूर्ण निरूपण में बिहारी ने अपनी निपुणता का परिचय दिया है वह अन्यत्र दुर्लभ है जैसे तो बिहारी के बाद देव के सौंदर्य चित्रों की चर्चा होती है परंतु बिहारी जैसी सजगता एवं सौंदर्य तत्त्व के सूक्ष्म ग्राहिणी सक्ति का उनमें प्रायः अभाव है । इस संबंध में रिति साहित्य के प्रबुद्ध आलोचक डॉ. नगेंद्र की भी यह धारणा है -

बिहारी में सौंदर्य के सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्दबद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है वैसी देव अथवा रीतियुगीन किसी भी कवि में नहीं हैं ।

सौंदर्य विषयीगत है या विषयगत, यह प्रायः, विवाद का विषय बन चुका है । कालिदास ने सौंदर्य की इयत्ता एवं अस्तित्व को विषयीगत (सब्जेक्टिव) ही माना है । इधर बिहारी ने भी विषयगत (आब्जेक्टिव) सौंदर्य की स्वाकर करते हुए भी विषयीगत सौंदर्य का प्रतिपादन इस प्रकार से किया है -

“समै समै सुंदर सबै रूप करुप न कोय ।

मन की रुचि जेती जितै, तित तैती रुचि होय ।”

यद्यपि यह सत्य है कि बिहारी की सौंदर्य तेचना अति व्यापक और विशद थी, पर समय एवं तत्कालीन मादक प्रभाव ने उन्हे अवकाश नहीं दिया कि वे सौंदर्य की व्यापक एवं विराट चेतना का विनियोग कर सकते । परिणामतः वे वस्तुगत सौंदर्य चित्रों की सूक्ष्म एवं कलात्मक संरचना के प्रति ही अधिक सजग एवं जागरूक रहे । कवि अपने अनुभूत भावों को तद्वत रूप में अभिव्यक्ति करता है । इसके लिए उसे भाषागत समस्त उपादानों का सूक्ष्म अनुसंधान करना होता है । इस अनुसंधान प्रक्रिया में जो उपादान उनसे मानस बिंब के करीब पड़ते हैं या उसे मूर्त रूप से पाठकों तक संप्रेषित करने में सहाय्यकाय्य होते हैं, उसका वह चयन करता है और वह उसे काव्य में डालकर एक नया रूप देता है जो पर्याप्त संप्रेषण सक्षम होती है । प्रायः सभी समीक्षकों ने बिहारी के काव्य-शिल्प की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है । बिहारी के शिल्प पक्ष में जैसे सजगता एवं उपयुक्तता दिखाई पड़ती है जैसे अन्यत्र दुर्लभ है । बिहारी ने कहीं बिंब निर्माण द्वार, कहीं अलंकारों द्वारा, तो हीं ध्वनिसिद्धांत के धरातल पर अपने काव्य में अद्भुत रमणीयता का सन्निवेश काय है । निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा बिहारी के काव्य शिल्प के वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया जा सकता है ।

१. बिंब विधा
२. अलंकार योजना
३. उक्ति वैचित्र्य
४. वर्णों का प्रयोग
५. भाषा

१. बिंब विधानः

बिहारी ने परंपरा से अर्जित काव्य - रूढ़ियों की समस्त मान्यताओं को जिस सजगता और प्रबुद्धता के साथ आत्मसात् किया था, उन्हें आकस्मिक चिंतन का परिणाम नहीं कहा जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी ने सुदीर्घ साधना और काव्याराधना के बल से शब्द अर्थ एवं वर्ण में जैसी पेंटिंग की है वह सबके लिए सहज नहीं। बिहारी के काव्य - बिंब रीतियुग के अन्य काव्य निर्माताओं से सर्वथा भिन्न और अपनी विशिष्टता लिए हुए हैं। बिहारी ने अपने काव्य में अनेक प्रकार के बिंबों की योजना की है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं।

चाक्षुष बिंबों के अंतर्गत नायिका की कार्य चेष्टाओं को प्रदर्शित करते हुए एक छंद में कवि ने मुस्कुराहट एवं खीझ की भाव रेखाओं को जिस उतार-चढ़ाव के साथ आबद्ध किया है वह अपने आप में अधिक संवेदनीय होने के साथ साथ कामोत्तेजक भी है -

“मानुतमासौ करि रही, बिबश बारुनी सेई
झुकति-हँसति, हँसि हँसि झुकति, झुकि झुकि हँसि हँसि देई ।”

बिहारी ने स्पर्श की कोमल अनुभूति की व्यंजना का जैसा बिंबात्मक रूप थड़ा किया है वह सराहनीय है। बिहारी और देव स्पर्शानुभूति के मार्मिक चित्रण में सिद्धहस्त थे...

‘रहौ, गुही बेनी, लखे गुहिबे के व्योना ।
लागों नीर चुचान, जे नीठी सुखार्ये बार ।।’

आशय यह है कि नायक के स्पर्श से नायिका को स्वेद सात्विक हो गया। इस स्वेद से नायिका के सुखाए हुए बाल पुनः भीग गए। अतः नायिका नायक को वेणी गूँथने के लिए मना कर रही है। यहाँ त्वचा द्वारा अनुभूत स्पर्श - बिंब का बिहारी ने बड़ी कुशलता के साथ प्रयोग किया है।

नाद-बिंब के अंतर्गत बिहारी ने श्रृंगारिक आभोग से हटकर यत्र तत्र ध्वनि की जैसी मार्मिक एवं सूक्ष्म व्यंजना की है वैसी ‘देव’ एवं ‘सेनापति’ का छोड़कर अन्यत्र लक्षित नहीं होता। उनके ध्वनि चित्रों में संयम और सहज माधुर्य की सूक्ष्म व्याप्ति श्लाघ्य है।

“रनित भुंग बृंग घंटावली झरित दान मधु नीर ।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर ।।”

अर्थात् गूँजते हुए प्रभारों की घंटावली से युक्त तथा झरते हुए मकरंद रूपी मद से संवलित

कुंज समीर रूपी कुंज (मस्त हाथी) मंद मंद गति से चला आ रहा है

घ्राण संवेदना से बिंब विधान में रीति युग के सफल कलाकार बिहारी और देव का नाम उल्लेखनीय है । बिहारी ने अभिसारिका नायिका के शरीर में व्याप्त सुगंध का वर्णन अत्यंत मार्मिक शब्दों में किया है । उदाहरण के लिए –

“जवति जोन्ह में मिलि गई नेकु न परत लखाई ।
सौंधे के डोरै लगी अली चाली संग जाई ॥”

यहाँ शुक्लाभिसारिका नायिक की शरीरगत व्याप्त सुगंध की मादक अनुभूति के निरूपण में बिहारी ने जबरदस्त कौशल्य प्रकट किया है , जहाँ ज्योत्स्ना में मिल जाने वाली नायिका का संधान बेचारी सखियाँ शरीर की सूक्ष्म एवं मदिर सूरभि से ही कर पाती है और भाँप लेती है कि नायिका मौजूद है, खोई नहीं है । उसी सुगंध के प्रवाह में सखियाँ भी नायिका के पीछे पीछे चली जा रही हैं ।

गत्यात्मकता की दृष्टि से बिंब दो प्रकार के होते हैं – १. गत्यात्मक बिंब २. स्थिर बिंब ।

बिहार दोनों प्रकार के बिंब निर्माण में सिद्धहस्त हैं । गतिशील बिंब स्थिर बिंब की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं । क्योंकि इसमें स्थितियों की एक अनवरत योजना होती है । उदाहरण स्वरूप शराब के नशे में डूबी नायिका की गतिविधि का गत्यात्मक चित्र निम्न दोहे में बड़ी सफलता से उतारा गया है –

“हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति ।
बलकि-बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति ॥”
स्थिर-बिंब की दृष्टि से निम्नलिखित दोहा उल्लेखनीय है -
“कंज नयनि मंजनु किये बैठी व्योरि र बार
कच-आगुरि बिच दीठी दै, चितवत नंदकुमार ॥”

प्रस्तुत दोहे में अपने बालों को सँवारती मूर्त हुई सद्यः स्नाता नायिका का बिंब पाठक के सम्मुख एक दम मूर्त हो जाता है । नायिका अपने बालों के बीच से अपने प्रिय को देख रही है । बिहारी की कल्पना शक्ति ने नायिका के इस स्वरूप की बड़ी ही सुंदर बिंबात्मक अभिव्यक्ति की है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी की बिंब योजना विविध प्रकार की है । ये विभिन्न प्रकार के बिंबों के निर्माण में सफल कलाकार हैं । कहीं कहीं इनके बिंब केवल चमत्कार प्रियता को ही सूचित करते हैं । ऐसे अवसरों पर वे सहृदय के अंदर गहनतम भावों की व्यंजना नहीं कर पाते । ऐसे बिंब कलात्मकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं, परंतु संप्रेषण क्षमता की दृष्टि से कम सफल हो पाए हैं ।

२. अलंकार योजना:

काव्य के सौंदर्य निर्माण में अलंकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । आचार्यों ने काव्य सिद्धांतों में अलंकार प्रयोग का जोरदार समर्थन किया है । चंद्रालोककार ने अलंकार विहीन काव्य को काव्य मानने से इंकार किया है । उनके अनुसार अलंकार विहीन शब्दार्थ को काव्य मानना वैसा ही निरर्थक है उसे उष्णता से हीन अग्नि को अग्नि कहना – “कस्मादनुष्टकनलं कृती” । अर्थात्

जिस प्रकार उष्णता से हीन अग्नि-अग्नि नहीं बल्कि राख है उसी प्रकार अलंकार विहीन शब्दार्थ काव्य नहीं है। रीतिकालीन काव्य अलंकार संप्रदाय से अधिक प्रभावित रहा। अतः रीतिकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में भरपूर अलंकारों का प्रयोग किया है। बिहारी भी युग धर्म के प्रभाव कसे वंचित नहीं रह सके। वैसे तो बिहारी रीतिसिद्ध कवियों की गणना में आते हैं और इनका उद्देश्य रीति निरूपण या अलंकारों का प्रदर्शन नहीं था, फिर भी इनकी सतसई में अधिकाधिक अलंकारों के दर्शन होते हैं। सतसई में शब्दगत एवं अर्थगत अलंकारों के विविध प्रयोग मिलते हैं। कुछ स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी अलंकार प्रियता तथा शब्दक्रीड़ा पर अधिकाधिक जोर देते हैं, कुछ अलंकार इतने सहज रूप से प्रयुक्त हुए हैं, कि काव्य सौंदर्य की वृद्धि में अत्यंत सहायक सिद्ध हुए हैं। बिहारी ने एक एक दोहे में कई कई अलंकारों का एक साथ सफल प्रयोग किया है। एक दोहे में एक साथ इतने अलंकारों एवं भावों का समावेश अन्यत्र दुर्लभ है। इन्हीं कतिपय विशेषताओं के कारण इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि बिहारी ने गागर में सागर भरने का एक सफल प्रयास किया है। नीचे सतसई में प्रयुक्त कुछ मुख्य अलंकारों के विवचेन प्रस्तुत हैं -

१. अनुप्रासः

रीतिकाल में यह अलंकार काफी प्रिय रहा है। इस काल के कुछ कवियों में कहीं कहीं अनुप्रास की झड़ी लगा दी है। 'सतसई' में अनुप्रास अलंकार के सभी भेदों का प्रयोग बिहारी ने सफलतापूर्वक किया है। जैसे

“कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात ।
भरे भौन में करत हौं, नैनन ही सो बात ।”

सानुप्रासिकता की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण दोहा है। इसमें विशेषण यह है कि 'त' की इतनी अधिक आवृत्ति के बाद भी इसके सौंदर्य में बाधा नहीं उपस्थित होती है, बल्कि उलटे यह काव्य सौंदर्य में सहायक सिद्ध हुआ है।

२. यमकः

प्रायः इस अलंकार का प्रयोग कवि के चमत्कार वृत्ति का परिचायक रहा है लेकिन बिहारी ने इसका बड़ा ही सुंदर प्रयोग किया है। बिहारी 'सतसई' में यमक का एक सुंदर प्रयोग द्रष्टव्य हैं -

“दीरघ सांस ने लेही दुख सुख सांई न भूलि ।
दई दई क्यों करत है दई दई सो कबूलि ।।”
उपर्युक्त दोहे में 'द्रई' शब्द के दो अर्थ हैं (भाग्य, दिया हुआ)

३. श्लेषः

श्लेष शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि एक ही पद द्वारा अनेक अर्थों की उन्मीलित करता है। श्लेष अलंकार शब्दगत एवं अर्थगत दोनों प्रकार के सौंदर्य में सहायक होते हैं। श्लेष के अतिप्रेम के कारण कहीं-कहीं बिहारी काव्यगत सौंदर्य की वृद्धि नहीं कर पाए हैं। जैसे -

श्लेष शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि एक ही पद द्वारा अनेक अर्थों को उन्मीलित करता है। श्लेष अलंकार शब्दगत एवं अर्थगत दोनों प्रकार के सौंदर्य में सहायक होते हैं। श्लेष के अतिप्रेम के कारण

कहीं कहीं बिहारी काव्यगत सौंदर्य की वृद्धि नहीं कर पाए है। जैसे –

“अजौ तरौन ही रह्यो जुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकतन के संग ॥”

यहाँ श्लिष्ट शब्दों (तरौना, जुति, नाकबास, मुकतन) की भरमार से स्वाभाविक काव्य – सौंदर्य दब सा गया है।

४. उपमा:

उपमा मूलतः सादृश्य मूलक अलंकार है। इसमें कवि अपने प्रस्तुत के सदृश प्रतीत होने वाली अप्रस्तुतों का चयन करता है, और उससे अपने अभिप्रेत को उपमित करता है। बिहारी द्वारा प्रयुक्त उपमायें सौंदर्य नियामक हैं, जहाँ दूरारूढ़ कल्पनाओं के चक्कर में पड़कर उपमानों का चयन किया है वहाँ अर्थ उन्मीलन में बाधा और अस्पष्टता आ जाती है।

“रहे बरोटे में मिलत, पिउ प्रानन के ईसु ।
आवत-आवत की भई, विधि की धरी धरीसु ॥”

यहाँ प्रिय की प्रतीक्षा की घड़ी (समय के एक लघु खंड को) ब्रह्मा की घड़ी (समय का एक बड़ा फलक) से उपमित किया गया है।

५. रूपक :

जब कवि अप्रस्तुत के प्रयोग द्वारा प्रस्तुत के पूरे रूप की अभिव्यक्ति करता है। तब इस अलंकार की सर्जना होती है। इसके प्रयोग में बिहारी एक सिद्धहस्त कलाकार हैं। जैसे –

खौरि-पनिच भूकटी-धनुष, बधिक समर तजिकानि ।
हनत तरुन-मृग तिलक-सर सुरल भाल भरि तान ॥”

यहाँ तिलक एवं आड़ से सुशोभित नायिका का पूरा रूप बहेलिए (कामदेव) से किया गया है। सांग रूपक की दृष्टि से यह दोहा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

६. उत्प्रेक्षा:

इस अलंकार के माध्यम से कवि अपने भावों की सम्यक अभिव्यंजन के काल्पनिक प्रयोग करता है। इसमें काल्पनिक उपमानों की उत्प्रेक्षा की जाती है। जहाँ पर बिहारी चमत्कार के चक्कर में पड़ते हैं वहाँ इस प्रयोग में असफल रहे हैं परंतु जहाँ वे काव्य की वेदना से परिचालित हो, स्वाभाविक उपमानों की खोज करते हैं वहाँ उनका काव्य उच्चकोटि का सिद्ध होता है। एक दोहे में उन्हें झीने वस्त्रों के बीच से झलकती नायिका के दोनों सुंदर नेत्र गंगा के विमल जल में उछलते हुए मीन की तरह प्रतीत होते हैं।

“चम चमात चंचल नयन, बिच घुघट पट झीन ।
मानहु सुरसातिना विमल, जल उदरत जुग मीन ॥”

७. अतिशयोक्ति:

इसमें कवि उपमेय के गुणों एवं कार्य व्यापारों का बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है। ताकि उसकी अद्वितीयता का बोध पाठक को हो सके। बिहारी अपने उद्दात्मक अतिशयोक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रायः इन्हें इस अलंकार के प्रयोग में सफलता नहीं मिल पाई है। क्योंकि यह सीमा का अतिक्रमण एवं एक खेलवाड़ मात्र बनकर रह गया है। उदाहरण के लिए –

“औघाई सीसी सुलखि, विरह बरनि बिललात ।
बिचहि सूखि गुलाब जौं छीटों छई न गात ।”

८. दृष्टांत:

जिस पद में उपमेय एवं उपमान वाक्यों तथा उनके धर्मों में बिब प्रतिबिंब भाव हो, वहाँ दृष्टांत अलंकार होता है। इस अलंकार की भी बिहार में प्रचुरता मिलती है –

“ओछे बडे न हैं, सकै लगौ सतर है गैन ।

दीरघ होंहि न नैक हूँ, फारि निहारै नैन ॥”

९. दीपक:

जब कई उपमान एकत्र हों और सभी का एक ही धर्म का कार्य व्यापार बताया गया हो, वहाँ दीपक अलंकार होता है।

“संपति केस सुदेसनर, नवत दुहुनि एक बानि ष
विभग सतर कुच नीच नर, नरम विभग की हाना ॥”

यहाँ पर केश एवं कुच रूपी प्रस्तुत के लिए श्रेष्ठ एवं अधम रूपी अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। यहाँ क्रमशः ‘नवल’ ‘सतर’ ‘नरम’ इत्यादी का एक ही धर्म होने से दीपक अलंकार है।

१०. विभावना-अलंकार:

जहाँ बिना कारण के कार्य होता है, वहाँ विभावना अलंकार होता है। इसके द्वारा कवि अपने कथन में असमान्यता लाता है। इस दृष्टि से बिहारी का निम्न दोहा दृष्टव्य है –

तिय कित कम नैती पढ़ी, बिनु जिहिं भौंह कमान ।
चलति-बेझै चुकति नहीं, बंक विलोकनि बान ॥”

११. अन्योक्ति:

बिहारी अपने अन्योक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका अन्योक्ति प्रयोग सर्वथा प्रभावशाली है। बिहारी ने मिर्जा राजा जयसिंह को संबंधित दोहे में अन्योक्ति का सफल प्रयोग किया है।

“स्वारथु सुकृत न श्रम वृथा, देखि विहंग विचारि ।
बाज पराए पानि परि, तु पच्छीनु न मारि ॥”

इसी प्रकार बिहारी ने सतसई में विषम, अपन्हुति भ्रांतिमान, अनुमान, विशैषोक्ति विप्सा, अद्भूत, व्यतिरेक अर्थान्तरन्यास एवं पुनरुक्ति आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। इनकी सतसई प्रायः सभी प्रमुख अलंकारों से भरी पड़ी है।

बिहारी के अलंकार प्रयोग की एक विशिष्टता है कि उन्होंने दोहे जैसे छोटे छंद में कई महत्त्वपूर्ण अलंकारों का सफल प्रयोग किया है। ये सभी अलंकार एक साथ प्रयुक्त होने से कहीं कहीं तो काव्य की चारुता में कई गुना वृद्धि कर देते हैं और कहीं अत्यधिक चमत्कार के मोह में काव्य के रसास्वादन में बाधा भी उपस्थित करते हैं। कुल मिलाकर बिहारी अलंकार प्रयोग में सफल रहे हैं।

३. उक्ति वैचित्र्यः

उक्ति गत रमणीयता का विधान करने के लिए कवियों ने कल्पना के बल पर अनेकशः रूप खड़ा किया है, पर इन उक्तियों में वैचित्र्य का प्रदर्शन ही सब कुछ नहीं माना गया है। अपितु रस या भाव व्यंजना के अनूठे चमत्कार विधान को ही प्रकृत उक्ति के रूप में अभिहित किया गया है।

‘सरस्वती कंठाभरण’ में भोजराज ने ‘उक्ति’ को शब्दालंकार का एक विशिष्ट प्रकार माना है तथा इसे ६ भागों में विभाजित किया है। वे इस प्रकार हैं - विद्धुक्ति, निषोधोक्ति अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति तथा परिसंख्योक्ति। पुनः उक्ति की व्यापकता पर विचार करते हुए उन्होंने समस्त साहित्य को इस दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया है।

१. **स्वभावोक्ति**: जिसमें वस्तु तथा तथ्य के प्रकाशन की प्रधानता होती है।
२. **वक्रोक्ति**: जिसमें अलंकृत शब्दावली अथवा अलंकारों से विभूषित उक्तियों के वक्रतापूर्ण कथन की प्रधानता होती है।
३. **रसोक्ति**: जिसमें रस व्यंजना एवं रसोत्कर्ष की प्रधानता पाई जाती है। इस दृष्टि से रीति कवियों द्वारा रचित विपुलांश साहित्य में वक्रोक्ति विधान की ही प्रधानता है। हाँ कुछ सरसिद्ध कवियों ने रसोक्ति प्रयोग में भी अपनी कुशलता का परिचय दिया है। रीति कवियों में घनानंद एवं बिहारी के काव्य में वक्रोक्ति एवं रसोक्ति दोनों का जैसा कलात्मक सामंजस्य हुआ है, वह निश्चित ही उस युग की उक्ति वैशिष्ट्य का स्पष्ट परिचायक है।

‘वैदग्ध भंगी भणिति’ बिहारी की रचना की मूल विशेषता है। इसी कारण बिहारी की रचना हजारों में पृथक है, और वह युगों के सहृदयों एवं रसिकों का कंठाहार बनी हुई है। यों उनकी वस्तु व्यंजना को लेकर आलोचकों ने उनकी वाणी की शिथिलता और उनकी ऊहा की बहुत आलोचना की है पर यही स्थिति सर्वत्र नहीं है। अधिकांश स्थलों पर बिहारी की वाणीगत भंगिमा का भी दर्शन प्राप्त होता है। यहाँ कवि की समृद्ध कल्पना शक्ति एवं रागानुभूतियों के समन्वय का महाप्रयास स्वतः लक्षित है।

निःसंदेह बिहारी की वाणी में रसव्यंजना के उत्कर्ष के साथ वक्रोक्ति विधान की अतिशय मरणीयता भी विद्यमान है। पुनः वक्रोक्ति का प्रयोग वही कर सकता है, जो वाणी, की सूक्ष्मता का पूर्ण परिज्ञान रखता हो और शब्दों के औचित्यपूर्ण कथन में कुशल होने के साथ ही कल्पना चित्रों को उरेहने में दक्ष हो। बिहारी के वक्रोक्ति विधान के संबंध में रीतिकाव्य के विद्वान आचार्य पं. विश्वनाथप्रसाद

मिश्र का कथन है कि - “जिनका भाव पर अच्छा अधिकार होगा, जो शब्दों को बिटाने की कारीगरी में निपुण होंगे, जो कथन के बाँकपन से परिचित होंगे वे ही वक्रोक्ति में निपुण हो सकते हैं”।

निःसंदेह बिहारी के उक्ति वैचित्र्य की दीप्ति वक्रोक्ति के कारण सहज रूप से प्रस्फुटित हो उठी है और रस मग्नता का गुण स्वतः प्रकट हो गया है। उदाहरणार्थ यह दोहा द्रष्टव्य है -

“लन सलोने अरु रहे अति सनेह सों पागि ।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि ॥”

प्रस्तुत उक्ति खंडिता नायिका के संदर्भ की है। यहाँ खंडिता नायक से कह रही है कि हे प्रियतम (ललन) यद्यपि आप सुंदर सु लौन - लवण युक्त) हैं स्नेह (घी अथवा तेल) से अच्छी तरह भीगे हुए थके हुए) हैं फिर भी आप अपनी खोड़ी सी प्रेम विषयक अपरिपक्वता एवं शिथिलता के कारण (कच्चापन के कारण) मुँह लगकर (झूठी बातें कहकर मुँह में कनकनाहट उत्पन्न करके सूरन की भाँति पीड़ित कर देते हैं। इस दोहे में समस्त स्वारस्य एवं चमत्कारिता सलोने, स्नेह एवं चिकनाई आदि तथा मुँह लागि जैसे द्विअर्थक शब्दों से पूर्ण स्पष्ट है।

अभिव्यंजना-कौशल ते प्रति अतिरिक्त सजगता ने ही बिहारी की उक्तियों को वैचित्र्य विधान के लिए प्रेरित किया वस्तुतः, इसमें दो मत नहीं कि बिहारी के दोहों में अतिरंजना के कारण जहाँ कल्पना तत्त्व अधिक उभरकर आया है, वहीं वैचित्र्य उनकी अभिव्यंजना कला का परिणाम कहा जा सकता है। अनुभूति या कल्पना तथा अभिव्यक्ति और कलात्मक प्रौढ़ता की संश्लिष्ट योजना बिहारी के दोहों में सर्वत्र लक्ष्य होती है। इस संबंध में निम्न दोहा द्रष्टव्य है -

“नैकु न जानि परति यों परयो विरह तन छाम ।
उठति दिया लौं नाद हरि लिए तिहारों नाम ॥”

यहाँ यद्यपि अति रंजन की प्रधानता है पर बुझते हुए दीपक की उपमा अत्यंत मौलिक उक्ति के अंतर्गत आती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बिहारी के उक्तिगत चमत्कार में कल्पना के साथ ही साथ अनुभूति और हृदय की रसात्मकता का पूर्ण योगदान है। रीति काव्य के मर्मज्ञ विद्वान डॉ. भगीरथ मिश्र ने बिहारी की उक्तियों की चर्चा करते हुए एक स्थान पर लिखा है -

“परंतु उक्ति वैचित्र्य की दृष्टि से बिहारी सर्वोपरि हैं। उनमें जो कथन का बाँकपन और व्यंग्य है, वह बड़ा ही विलक्षण है। उनके उक्ति चमत्कार के भीतर शब्द चमत्कार, संकेतपूर्ण अर्थ, विरोधाभास, व्यंगोक्ति, असंगति आदि की आकर्षण आभा विद्यमान है। जो काव्य मर्मज्ञ के हृदय को तन्मय करने वाली है।” “कला साहित्य और समीक्षा”

४. वर्णों का प्रयोग:

वर्णों के प्रयोग में रीतिकाल का चतुर शिल्पी इतना सजग लगता है कि उसकी समस्त काव्य चेतना भिन्न वर्णों चित्रों के आलेकन में बहुत गहरे धरातल तक उतर आयी है। फिर भी बिहारी, देव और का वर्ण बोध समस्त रीति परंपरा से अपनी सूक्ष्मता तथा वैशिष्ट्य के कारण पृथक लगता है।

जिस प्रकार किसी चित्र की पूर्णता उन रेखाओं से व्यक्त होती है, जो वास्तविक संवेदना को मुखरित करने में परम सहायक होती है ठीक यही स्थिति काव्य में वर्णों की होती है। वस्तुतः वर्ण अनुभूतियों एवं कल्पना के क्षीण कलेवर को पूर्ण स्फीतता प्रदान करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस दृष्टि से बिहारी के चित्र अधिक गाढ़ और चटकीलें रंगों के दीप्तिमान हैं। डॉ. नगेंद्र ने 'हिगारी एवं देव' के रंगों के सूक्ष्म परिज्ञान के संबंध में वर्णयोजना का अद्भूत चमत्कार दिखाया है। कहीं छाया प्रकाश के मिश्रण द्वारा चित्र में चमक उत्पन्न की गई है। कहीं उपयुक्त पृष्ठभूमि देते हुए एक ही रंग को काफी चटकीला कर दिया गया है, और कहीं अनेक प्रकार के रंगों को सूक्ष्म कौशल से मिलाते हुए उसमें सप्तरंगी आभा उत्पन्न की गई है।

- "देव और उनकी कविता" पृ. १६६

बिहारी ने विभिन्न रंगों के कौशलपूर्ण प्रयोग द्वारा जहाँ चमत्कार प्रदर्शित किया है, वहीं उत्कालीन रंगीनी और विलास मंडित वातावरण का भी सहज संकेत किया है। रंगों के मिश्रण द्वारा निर्मित एक चित्र का उदाहरण -

“अधर-धरत हरि के परत ओठ दीठ पटजोति ।
हरित बॉस की बॉसुरी इंद्र धनुष सी होति ॥”

इसमें रंगों के मिश्रण का सूक्ष्म प्रयोग कवि के अतिरिक्त कौशल को तो व्यंजित करता है, पर आंतर स्पर्श की व्यंजना की दृष्टि से यह छंद बहुत अच्छा नहीं है। हाँ, वय; संधि के प्रयोग में रंगों का प्रयोग अति सूक्ष्म तथा कोमल है।

“छुटी न सिसुता की झलक झलक्यो जोबन अंग ।
दीपति देह दूहन मिलि दिपत ताकता रंग ॥”

अभी शिशुता का रंग छुटा नहीं और जबानी की कांति शनैः शनैः बढ़ रही है। इस पर कवि के उत्प्रेक्षा कि मानो शरीर की छटा धूप छाँह नामक रेशमी वस्त्र की भाँति दो रंगी चमक रही है। इसमें अवश्य ही हल्के रंगों के प्रयोग द्वारा चित्र को अधिक मादक और इंद्रिय बनाने की चेष्टा की गई है। इसके अतिरिक्त 'व्रीड़ा' संचारी भाव के अंतर्गत बिहारी ने नायिका के चेहरे पर सहसा बिखरने वाली लालिमा का ऐसा सरस और भावनात्मक चित्रण किया है कि उसके रंग प्रयोग के विशिष्टम का सम्यक् बोध होता है। जैसे

“पहिरति ही गोरे गरें, यों दौरि दुति लाल ।
मनों परस पुलकित भई, मौलसिरी को माला ॥”

नायक द्वारा प्रेषित मौलसरी की माला को पहनते ही स्पर्श के कारण नायिका का अंग रोमांचित हो उठा तथा अनुराग जनित लज्जा की लालिमा अंग-अंग में व्याप्त हो गई। यहाँ रंगों के आकस्मिक परिवर्तित होने की स्थिति अत्यंत मार्मिक और अपनी प्रभविष्णुता में बेजोड़ है।

५. भाषा:

काव्य सौंदर्य के अंतर्गत भाषा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। बिहारी की भाषा रीतिकाल के अन्य कवियों की भाषा से सर्वथा भिन्न और अपनी विशिष्टता लिए हुए है। यही कारण है कि उनकी भाषा

शैली का बहुत अनुकरण हुआ है । लेकिन उस पर बिहारी की मुहर नहीं लग सकी । बिहारी की भाषा पर विचार करते हुए रत्नाकरजी ने लिखा है कि बिहारी ने अपने वाक्यों में पदों का प्रयोग बहुत सूझ बूझ के साथ किया है, और प्रयोग वैषम्य तथा उच्छृंखलता से अपनी भाषा को बचाए रखा ।” इस संबंध में शुक्लजी का यह कथन बहुत ही सटीक है कि - “हिंदी साहित्य का इतिहास”, रामचंद्र शुक्ल

समग्रतः बिहारी का काव्य सौंदर्य उत्कृष्ट कोटि का है । जैसी सुंदर शिल्प योजना बिहारी में दिखाई देती हैं, वैसी बहुत कम कवियों में दिखाई पड़ती है । काव्य के समस्त शिल्पगत उपादानों की दृष्टि से बिहारी सतसई का आदर्श ग्रंथ है । अलंकार बिंब, ध्वनि, रंग प्रयोग एवं भाषा की दृष्टि से अभिव्यक्ति कौशल्य का मूल्यांकन करने पर उनकी श्रेष्ठता स्वतः प्रमाणित हो जाती है । बिहारी के शिल्प कौशल्य की प्रायः सभी समीक्षकों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है । इस दृष्टि से बिहारी का स्थान समूचे हिंदी साहित्य में अमर रहेगा ।



पद्यावत में प्रकृति चित्रण

प्रकृति का अर्थ और काव्यः

व्यावहारिक रूप से तो जितनी मानवेतर सृष्टि है उसको ही प्रकृति कहा जाता है, किंतु दार्शनिक दृष्टिसे हमारा सरीर और मन, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति में अंतर्भूत हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रकृति से हमारा अभिप्राय मनुष्यत्र जगत से है। जिसमें नदी, पर्वत, वन कछार, आकाश, चन्द्र, ज्योत्स्ना, सूर्य आदि सम्मिलित हैं। प्रकृति या प्राकृतिक का अर्थ है स्वभाव या स्वाभाविक। अतः प्रकृति के अंदर वही वस्तुएं आती हैं, जिन्हे मनुष्य के हाथों ने सजाया संवारा नहीं है और स्वयं ही अपनी नैसर्गिक छटा से हमें आकर्षित करती हैं। ईश्वर की कारीगरी को हम प्रकृति और मानव की कारीगरी कला कहते हैं। सृष्टि के आदिकाल से ही मानवहृदय प्रकृति के परिधान परिवर्तित करने वाले और क्षण क्षण नवीनता प्राप्त करने वाले रमणीय रूप सौन्दर्य से अभिभूत, सिक्त और आह्लादित हो रहा है। प्रकृति की गोद में मानव मन सुख का अनुभव करता है और साहचर्य जन्य मोह का स्वाभाविक रूप से उसके मन में प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार आलम्बन रूप में प्रकृति मानव को प्रभावित करती एवं उसे आकर्षित करती है। प्राकृतिक दृश्य आलंबन के भावों को उद्दीप्त करने में सहाय्यक होते हैं। प्रकृति प्रेमी सहृदय कवि प्रकृति में चेतना प्रतिस्पंदन एवं संवेदनशील के दर्शन करता है। महाकवि कालिदास भवभूति आदि ने प्रकृति को बड़े ही व्यापक रूप में गृहित किया है। हिन्दी के आदिकालीन एवं मध्ययुगीन साहित्य में भी प्रकृति-चित्रण को विशेष महत्त्व दिया गया है।

जायसी मध्ययुग के एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था। पद्यावत में उन्होंने एक ओर संस्कृति साहित्य की रुढ़िगत भारतीय परंपरा का वर्णन किया है तो दूसरी ओर अपभ्रंश भाषा और जनकंठ की परंपरा से सीधे चले आते हुए लोकगीतों लोक भाषाओं और लोकदृष्ट जीवन के तत्वों के माध्यम से प्रकृति -चित्रण किया है। उन्होंने जनकंठ से मुखरित होने वाले बिरहागान बारहमासा आदि के लोकगान पद्धति में समादृत प्रकृति - चित्रण शैली को भी गृहीत किया है।

जायसी द्वारा वर्णित प्रकृति के वैविध्य को यद्यपि आलंबन, उद्दीपन एवं अलंकरण रूपों के अंतर्गत समेटा जा सकता है किन्तु जायसी द्वारा किए गए प्रकृति-चित्रण को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित विभागों के अंतर्गत रखा जा सकता है।

१. उपमान रूप में किया गया प्रकृति - चित्रणः

अपनी अभिव्यक्ति के चरमोत्कर्ष के लिये कवि प्रायः प्रकृति के उपादानों को अलंकार रूप में ग्रहण करते हैं। ऐसा करके वे प्रकृति गृहीत उपमानों के माध्यम से सौन्दर्य को अधिक तीव्र गाढ़ एवं मार्मिक बनाते हैं। कवि उपमा उत्प्रेक्षा आदि के द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषय में सौन्दर्य डालने के लिए सारी सृष्टि छान मारता है। उपमानों की सहायता से जड़ प्रकृति में चेतन सौन्दर्य का जीवन्त और स्पंदनशील आरोप किया जाता है। प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमानों के सहारे जब जायसी सौन्दर्य की तीव्र और गाढ़ व्यंजना करने लगते हैं तब उनमें तीन प्रकार के उपमान लक्षित होते हैं।

अ. परंपरा प्रचलित रूढ़िबद्ध उपमान

जायसी ने संस्कृत अपभ्रंशादि एवं फारसी साहित्य में प्रयुक्त उपमानों के माध्यम से प्रकृति का चित्रण किया है। इस प्रकार के उपमानों को तीन रूपों में रखा जा सकता है -

नख शिख वर्णन:

जायसी ने रूपसौन्दर्य का वर्णन करते हुए पद्मावती के लौकिक एवं अलौकिक आयामों की गाढ़ सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के उपमानों द्वारा अपनी समर्थ तुलिका से मार्मिकता एवं सरसता से संवलित काव्यात्मकता का ही चरम उत्कर्ष प्रदर्शित किया है। नायिका के सौन्दर्य-चित्रण के लिए कवि ने नख शिख वर्णन का विधान किया है। इसके द्वारा उन्होंने नायिका के विभिन्न अंगों का चित्रण करते हुए उसके सौन्दर्य के गारिमा को उभारा है। यही अकथनीय सौन्दर्य नायक को योगी का वेष बनाकर घर से निकलने के लिए बाध्य करता है। वस्तुतः सूफी सिद्धांत के अनुसार सौन्दर्य द्वारा ही ईश्वर अपने को व्यक्त करता है। पद्यावत में आठ स्थलों पर नख-शिख वर्णन के प्रसंग आये हैं। जैसे सिंहल की वेश्याओं का अव्यवस्थित नख-शिख वर्णन, यौवन भार-भारिता पद्यावती का नख-शिख, मानसरोवर में स्नान के लिए उद्यत पद्मावती के केश खोलते समय का वर्णन, हीरामन शुककथित रत्नसेन से पद्मावती का नख-शिख, लक्ष्मी, समुद्र खण्ड में मुरझाई तथा क्लांत पद्मावती का नख-शिख, नागमती से पद्मावती आत्मशलाथा रूप में अपना सौन्दर्य वर्णन करती है। प्रत्युत्तर में पद्मावती से नागमती आत्मप्रशंसा रूप में अपना सौन्दर्य वर्णन करती है। राघव चेतन कथित अल्लाउद्दीन से पद्मावती का नख - शिख वर्णन करता है। रूप सौन्दर्य के इन स्थलों पर जायसी ने साहित्य के परंपरा प्रचलित उपमानों, लोकगृहीत उपमानों तथा अन्य प्रकार के उपमानों की संयोजन अत्यंत सुंदर और काव्यात्मक रूप में की हैं।

मानवीय भावनाओं का वर्णन:

प्रकृति - क्षेत्र से गृहीत मानवीय भावों की अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त उपमानों ने वर्णन की अत्यंत मार्मिक एवं सजीव बना दिया है। जैसे -

“काह हँसों तुम गों सों, किरजु और सोनेह ।
तुम चमके मुख बीजुरी मोही मुख बरसैं मेह ॥”

रत्नसेन सिंहल से लौट आया है। पद्मावती के कारण उसे हर्ष की कोई सीमा ही नहीं है। बेचारी नागमती के लिए तो अश्रु-प्लावित विरह के दिन ही देखने पड़ रहे हैं। रत्नसेन के हर्षातिरेकपरक ही उसने ऐसा कहा है। रत्नसेन के मुख मंडल पर विद्युत कौंध रही है, परन्तु नागमती के नेत्रोंम से मेघ बरस रहे हैं। यहाँ बिजली का चमकना और मेघ का बरसना के द्वार व्यंजना अत्यंत मार्मिक हो गयी है। जायसी की यह विशेषता है कि, उन्होंने अपनी कविता में प्रायः मानवी सुख-दुखों का वर्णन प्रकृति के उपमान के माध्यम से किया है।

अन्य व्यापारों के लिए प्रकृति से गृहीत उपमान:

इस प्रकार के उपमान पद्यावत में बहुतायत में मिल जाते हैं।

“खडग बीजु चमकै चहुँ औरा । बन्दुवान बरसहिं घनघोरा ॥
आनंदघाटा चहुँ दिसि आई छुटहिं बान मेघ झरिलाई ॥”

यहाँ पर प्रथम पंक्ति में बाणों के लिए 'उपमान मेग की झड़ी' और लगातार बाण छूटने के लिए उपमान बन जाती है। कवि प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। उसके सूक्ष्मतम तत्त्वों के प्रति आकृष्ट होता है और प्रत्येक वस्तु को संश्लिष्ट कर एकत्र वर्णन करता है। उसका प्रकृतिचित्रण प्रत्यक्ष दर्शन का सा आनंद देनेवाला होता है।

२. वातावरण की निर्मित:

जायसी ने अनेक स्थलों पर प्रकृति के चित्रों का शुद्ध प्रयोग प्रकृति-वर्णन के रूप में भी किया है। वे जब वातावरण की निर्मिति के लिए प्रकृति का चित्रण करने लगते हैं तब ग्रामीण उन्मुक्त दृश्यों के रूप में प्रकृति का आलम्बन गत् रूप ही प्रमुख हो उठता है। सिंहल द्वीप के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन सिंहल के वैभव चित्रण की पृष्ठभूमि के रूप में काया गया है। चतुर्दिक सघन अमराई, सहावन मलय पवन, हरा-हरा आकाश, आम, खिरनी, जामुन, महुआ आदि के द्वारा वैभवय वातावरण का निर्माण किया है। ये सभी प्रकृति के शालीन रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

“घन अँबराइ लाग चहुँ पासा । उठा भूमि हुत लाग अकासा ॥

तरिवर सवै मलयगिरि लिए । मैं जग छाँह रैनि होइ छाए ॥”

अंवरार्ई के वर्णन के साथ- साथ ने पलों का भी वर्णन बहुत ही मनोरम ढंग से किया है -

“फरे आंव अति सधन सोहाये । औ जस फरे अधिक सिर नाए ॥”

जायसी ने अपने प्रकृति - वर्णन में फलों और फलों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की है। शुक्ल जी ने इन सूचियों के विषय में लिखा है - सूची मात्र देने का काम तो कोई बहेलिया भी कर सकता है। शुक्ल जी का यह कथन पर्याप्त अंशों में ठीक है फिर भी कई दृष्टियों से इन सूचियों का बड़ा महत्त्व रहता है। फूले हुये श्वेत कुमुदों से अलंकृत ताल और तालाब ग्राम्य श्री और ग्राम्य जीवंत और वैभववंत अनुपम चित्र हैं। इसमें ग्राम्य शोभा मुखरित होती है। जायसी ने उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से छिछली तलैयों और तालाबों में प्रफुल्लकुमुदों के सौंदर्य को अधिक प्रभविष्ण बना दिया है। मेघों का उतरना पानी लेकर चढ़ना और विद्युत की कौंध की सजीव प्रक्रियाएँ दृष्टव्य हैं -

“नाल तलाब बरने नहीं जाहीं । सुझै बार-बार किछु नाहीं ॥

फूले कुमूद सेत उजियारे । मानेहुँ उग गगन महँ तारे ॥

उत्तरहिं मेग चढ़हिं लेइ पानी । चमकहिं मच्छ बीजु कैवानी ॥”

इन उद्धारणों में महाकवि जायसी ने श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा परांकुर आदि अलंकारों और समासोक्ति शैली के द्वारा काव्योपयुक्त रसमयता का उन्नयन किया है। जायसी की दृष्टि में कालिदास का स्वप्निल ऐश्वर्यमय वातावरण फल रहा था -

जबहि दीप निसरावा जाई । जनु कविलास नियरमा आई ॥”

जायसी ने कई स्थलों पर भी आलंबनगत प्रकृति चित्रण किया है। इन सभी स्थलों पर भी उनका प्रकृति चित्रण काव्यात्मक हो उठा है।

३. आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और ईश्वरी वैभव के लिए:

रहस्यवादी प्रकृति में परमतत्व के दर्शन करता है ष इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। मध्ययुगीन हिंदी साहित्य में कबीर और जायसी में एक सर्ववादमूलक भावना

मिलती है। 'कबीर' ने परमतत्त्व को अंतर में व्याप्त और पलभर की तलाश में मिलने वाला बताया है। कबीर की दृष्टि जहाँ तक आती है उन्हे पमसत्ता का सौंदर्य ही दृष्टिगोचर होता है।

जायसी के लिए भी आत्मा और परमात्मा की एकता एक अनुभव सत्य है। परमात्मा प्राण रूप में ही हृदय में व्याप्त है। आश्चर्य की बात है कि भेंट नहीं होती। जायसी भेंटने के लिए विकल हैं -

‘पिउ हिरदय मँह भेट न होई । कोरे मिलाव कहो कहि रोई ।’

जायसी केवल दृश्य में ही नहीं वरन उस ज्याति को सचराचर में देखते हैं। मध्ययुगीन प्रेम काव्यों में एकेश्वरवाद का ही स्वर प्रधान था। ये विचार और भावनाप्रवण मनीषी प्रकृति की विभूतियों में स्रष्टा और नियामक की भावना को सर्वोपरि मानते हैं। जायसी ने भी उस विश्व के मूल आदि एक करतार की वंदना की है -

‘‘सुमिरौं आदि एक करतारु । जेहि जिउ दिन्ह कीन्ह संसार ।’’

जायसी ने इस प्रकार की ईश्वर स्तुति का विधान अपने अनेक ग्रंथों में किया है। सृष्टिको उसी करतार ने बनाया है। सृष्टि और प्रकृति के विविध उपादान प्रकाश, तारे, सूर्य, चंद्रधरती, पर्वत, मेघ, गन, छाया आदि इस स्तुति के माध्यम हैं।

प्रायः सूफी प्रेमाख्यानों में प्रकृति के माध्यम से (क) आध्यात्मिकता (ख) प्रेम की अभिव्यंजना दोनों अविभाज्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। जायसी ने सिंहल द्वीप का वर्णन करते हुए प्रकृति के अत्यंत सुंदर और विलसित वातावरण द्वारा आध्यात्मिक शांति और परम आनंद को इंगित किया है। मानसरोवर वर्णन में भी उन्होंने लौकिक वातावरण के साथ अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करते हुए परमसत्ता के सौंदर्य को अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है।

जायसी ने प्रकृति के उल्लसित क्रियाशील रूप का भी वर्णन किया है। पक्षियों की बोली पीऊ -पीऊ, कुहू-कुहू, यही शब्द श्लेषात्मक और सोद्देश्य हैं। सभी पक्षी अपनी-अपनी भाषा में 'दर्ई' का नाम लेते हैं। इस प्रकार समग्र प्रकृति प्रेमतत्त्व के माध्यम से ईश्वर की ओर प्रेमोन्मुख हैं। इसके अतिरिक्त जायसी ने प्रकृति-वर्णन के लिए विश्वविधान का भी प्रयोग किया है। 'राजा सुआ - संवाज खंड' प्रकृति मानवी प्रेम विरह के प्रतिबिंब रूप में आध्यात्मिक प्रेम की पृष्ठभूमि बन जाती है। प्रायः सभी सूफी कवियों ने संसार के सौंदर्य को प्रिय के प्रति भासित सौंदर्य के रूप में देखा है अतः इनकी साधना में लौकिक बी अलौकिक हो गया है।

सारांश रूप में प्रेमोपासक जायसी के प्रियतम प्रकृति में व्याप्त हैं। इन्होंने समस्त चराचर प्रकृति में उसी की व्याप्ति का अनुभव किया है। इन्होंने अपने प्रेमास्पद का प्रतिबिंब समस्त प्रकृति में देखा है।

४. उपदेश और नीति के माध्यम से:

मानव ने प्रकृति के कार्यकलाप को अनेक रूपों में आदर्श मानकर सक्ति ज्ञान और सांत्वना प्राप्त की है। प्रकृति के नियम अत्यंत स्थिर और शुभ हैं। मानव अपने जीवन के नीति और नियम आदि की अस्थिरता की स्थिति में प्रकृति से प्रेरणा एवं विचार ग्रहण करता है। जैसे पर्वत चारित्रिक दृढ़ता के, पवन अनवरत सेवा वृत्ति का, सरिता एवं वृक्ष परोपकार और समुद्र गांभीर्य के आदर्श

उपस्थित करते हैं। श्रीमद्भागवत् में भी प्रकृति को नीति और उपदेश के माध्यम के रूप में गृहीत किया गया है। सिंहल द्वीप के पक्षी भी ईश्वर के नाम स्मरण का उपदेश व्यंजित कर रहे हैं -

“पीव पीव का लाग पीहा । तुही तुही कर गडडरी जीहा ॥”

यहाँ पर प्रकृति का उपदेशामृत द्रष्टव्य है। कही कहीं जायसी ने दृष्टांत के रूप में प्रकृति द्वारा उपदेश की अभिव्यक्ति भी की है।

“मुहमद बाजी प्रेम कै ज्यो भावै त्यों खेल ।

तिल फुलहिं के संग ज्यों होय फुलायल तेल ॥”

यहाँ पर स्मरणीय है कि नीति और उपदेश के रूप में किए गए प्रकृति वर्णन का काव्य सौंदर्यवर्धन की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। ऐसे वर्णनों में कवि का उपदेशक रूप मुखर हो उठता है और कथाप्रवाह में शैथिल्यदा जाता है।

५. मानवीय हर्ष विषद की अभिव्यंजना के रूप में:

इस प्रकार के प्रकृति - चित्रण को मानवीकरण से संबद्ध चित्रण भी कहा जा सकता है। कवि का प्रकृति प्रेम प्रकृति सुंदरी के क्रियाकलाप तक ही सीमित नहीं रहता अपितु उसको वह अनुराग, विराग, क्षोभ, हर्ष विषाद आदि भावों से पूर्ण देखता है। प्रकृति पर चेतनता का आरोप ही मानवीकरण है। जैसे महाकवि कालिदास ने मेघ पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप कर उससे दूत का काम कराते हैं। महाकवि जायसी ने भी पद्मावत में हर्ष विषादादि के भाव प्रभाव प्रकृति पर दिखा लाए हैं। ऐसे स्थलों की मुख्यतः दो विशेषताएँ हैं -

१. सुख दुःख के प्रभाव स्वरूप प्रकृति को संवेदनशील रूप में चित्रित किया गया है और मानव मनोभावों की अभिव्यक्ति की गई है।

उदाहरण स्वरूप जायसी ने प्रकृति को विरहव्यथिता नागमती के विरह दुःख से अनुत्पन्न बताया है -

“तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होई राते ॥

रातै बिंब भीजि तेही लोहू । पखर पाक फाट हिय गोहूँ ॥”

इतना ही नहीं नागमती की विरह व्यथा से अचेतन पदार्थ भी अत्यंत दुःखी हैं। पलाश पत्रशून्य होकर श्रीहीन हो गया है। सरोवर तक का हृदय टुकड़े - टुकड़े हो गया है -

“सरवर हिया घटत नित जाई । टूक टूक है कै विहराई ॥”

मानसरोवर खंड से पद्मावती के अप्रतिम सौंदर्य को देखकर मानसरोवर तरंगायित हो उठता है -

“सरवर रूप विमोहा हिं दिलोरहिं

पांव छुवै मुक पावों एहिं मिस लहरहिं देई ॥”

पद्मावती के केश खोलने पर संपूर्ण विश्व तिमिराच्छन्न हो उठता है। और

“चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलौ हो नाह ।

एक चाँद निसि सरग महै दिन दूसर जल्न माँह ।।”

इस प्रकार प्रकृति में मानवीकरण की भावना हमें आदि कवि वाल्मीकि के ही काव्य में प्राप्त होती है। कवियों ने प्रकृति से तादात्म्य का स्थापन करते हुए उसमें प्रतिस्पर्धन का आभास पाया है। जायसी ने भी प्रकृति में संवेदनशीलता का अनुभव तो किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने मानव क्रियाकलापों से भी प्रकृति को पूर्ण पाया है। जैसे

“नवल सिंगार वनस्पती किंहा । सीस परासहिं सेंदूर दीन्हा ।”

६. उद्दीपन रूप और विप्रलम्भ श्रृंगारः

उद्दीपन रूप में प्रकृति को श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में वर्णित किया गया है। उद्दीपन विभाव का शास्त्रीय स्वरूप यही है, कि संयोगावस्था में प्रकृति का विलास सुखवर्धक और वियोगावस्था में विषादप्रद हो। संयोग में मलय पवन चन्द्रिका चर्चित यामिनी, मंजरित अमराई आदि पारस्परिक आकर्षण को बढ़ाते हैं। किंतु वियोग में प्रकृति के ये आकर्षण विरहीजन को दग्धकारक प्रतीत होते हैं। वियोग तीन प्रकार का माना गया है मानजन्य, प्रवासजन्य और मृत्युजन्य, प्रय की मृत्यु पर करुण रस का आविर्भाव होता है। मान क्षण होता है। अतः स्वभावतः असमें तीव्रता की कमी होती है। वस्तुतः प्रवासजन्य वियोग ही पूर्ण और प्रभावशाली होता है।

संयोग श्रृंगार के प्रमुख रूप से दो उपयोग हैं - एक तो प्रकृति मानसिक उल्लास की अभिवृद्धि करती है और दूसरे शारीरिक उपयोग की वस्तु बन जाती है। संयोगावस्था में प्रकृति के दृश्य पारस्परिक आकर्षण की संवृद्धि करते हैं किंतु विरहावस्था में सके विपरीत सभी आकर्षण- विकर्षण में बदल जाते हैं।

वस्तुतः मनोगत भावों की उद्दीप्त करना ही प्रकृति का महत्त्व है। बिना प्रकृति के अपने महत्त्व के भाव भले ही उद्दीप्त हो जाएं पर उसमें आपेक्षित तीव्रता, सरसता तथाप्रभाव का अभाव रहेगा। जायकसी ने श्रृंगार के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत जो प्रकृति चित्रण किया है, इसमें संस्कृत साहित्य में अविच्छिन्न भाव से चली आ रही षड्ऋतु वर्णन प्रणाली एवं जनगीतों के बारहमासा विरहागान आदि की लोकप्रणाली के भी दर्शन होते हैं। जायसी के उद्दीपक प्रकृति का अत्यंत सुंदर प्रयोग किया है।

“बरसै मघा झकोरी झकोरी । मोरि दुइ नैन चुवै जस ओरी ।”

प्रस्तुत पंक्ति में प्रकृति के मघा नक्षत्र में झकोर झकोर कर बरसने वाला खंड दृश्य के द्वारा विरहिणी नागमती के करुण मूर्ती का जीवंत रूप प्रस्तुत किया गया है।

षड्ऋतु वर्णनः

प्रकृति के उद्दीपन के अंतर्गत षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से श्रृंगार निवेदन करना भारतीय कवियों की एक अत्यंत प्राचीन प्रथा है। षड्ऋतु वर्णन मिलनजन्य आनंद में उद्दीपन का संचार करता है। इनके द्वारा कहीं कहीं विरहजन्य दुःख बोध को अधिक गाढ़ एवं मार्मिक बनाने का भी काम लिया गया है। कभी कभी कवियों ने पात्रों के मुख से ऋतु सौंदर्य का उद्घाटन करवाया है। “कर्पूर मंजरा” में इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत साहित्य के आदि कवि

वाल्मीकि से अविच्छिन्न भाव से चली आ रही षड्ऋतु वर्णन की परंपरा अपभ्रंश से होती हुई हिंदी साहित्य में चली आयी है। इस परंपरा में कालिदास के ऋतुसंहार में षड्ऋतु वर्णन का भव्य और जीवन्त रूप दर्शनीय है। जायसी ने भी इसी परंपरा से रत्नसेन औप पद्मावती के संयोग श्रृंगार के उद्दीपन रूप में षड्ऋतु वर्णन नूतन परिणीता पद्मावती के हर्षितरेक का चित्रण करता है।

नवल वसंत ऋतु पद्मावती के लिए अभिनव जीवन का संदेश देते हुए आयी है। नवल, वसंत, चैत्र, वैशाख की श्री संपन्नता चंदन, चीर, पुष्पहार, परिमल सुवास भौरों का पुष्प के संग क्रीडाफाग आदि उद्दीपक वस्तुएं पद्मावती के यौवन में अभिनव उल्लास का संचार करती हैं। सर्वोपरि बात यह है कि कांता घर में है ऋतु सहावनी है, आया न करे वसंत पुनः पुनः नित्यप्रति।

जहाँ जेष्ठ आषाढ में कांता घर में ही है वहाँ ग्रीष्म ऋतु की तपन कहाँ रह सकती है। धन्या ने सरंगी झीना परिधान पहन रखा है। परिमल और मद से उसका मन मह हो उठा है। पावस ऋतु में बाला कांता के साथ विलास सावन भादों का अधिक सुंदर लगना प्रियतम के संग रतिरंग में जागी अनुरागिणी धन्या गगन गर्जन से चौककर उसका कंठलिगन करना। धन्या का प्रियतम के साथ हिडोले का आयोजन, बतास का शीतल लगना धन्या से पवन और पवन से धन्या परिमल और सुवास प्राप्त करके धन्य धन्य होना चाहते हैं। इस प्रकार वर्षाऋतु के सुहाने तत्त्व संभोगिनी पद्मावती को हर्षितरेक प्रदान करते हैं।

इसके अतिरिक्त जायसी ने शरद, हेमंत और शिशिर ऋतु के वर्णन भी सोद्देश्य एवं आकर्षक ढंग से किए हैं। उपयुक्त वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक उपादानों द्वारा नव दंपति के हर्ष एवं सुख विलास को उद्दीप्त करने के लिए षड्ऋतु वर्णन की योजना द्वारा काव्य सौंदर्य का वर्णन किया गया है।

बारहमासा और उसका सौंदर्य:

बारहमासा की परंपरा संस्कृत साहित्य में नहीं मिलती। संभवतः लोक जीवन से गृहीत यह परंपरा हिंदी साहित्य की अपनी वस्तु है। बारहमासा के द्वारा प्रत्येक महीने की प्रकृति के विरही और विरहिणीयों पर पड़े हुए प्रभाव वैविध्य के माध्यम से प्रकृति-चित्रणकिया जाता है। हिंदी साहित्य में बारहमासा वर्णन आदिकाल से ही मिलने लगता है। जायसी ने बारहमासा वर्णन का लक्ष नागमती का विरहोद्दीपन एवं स्वाभाविक प्रकृति-चित्रण द्वारा विरहिणी नागमती की विरहजन्य वेदना का हृदय स्पर्शी निरूपण है। इस बारहमासा का मूल आधार नागमती का विरह निवेदन ही है। परंपरा प्रचलित प्रकृति के उपमान नवीन मौलिक उपमान एवं मार्मिक उक्तियों से युक्त इस बारहमासे में क्षण-क्षण नवीनता और उत्कृष्ट सौंदर्य प्रदान करने वाली ताजगी विद्यमान है। जायसी ने इस वर्णन में प्रकृति के उद्दीपन विभाग के अंतर्गत आनेवाले रूपों की दृष्टि से उन्मुक्त वातावरण का सर्जन किया है।

पद्मावत में वर्णित बारहमासे में प्रकृति और विरहिणी की भावनाओं का सामंजस्य अत्यंत सरल एवं मनोमय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति का स्वाभाविक रूप भावों को आधार प्रदान करता है और भावों की सहज स्थिति प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करती है। इसके साथ ही प्रकृति के विविध क्रिया-व्यापारों के भावों की व्यंजना का सन्निविष्ट रूप भी बारहमासे का एक आकर्षण और सौंदर्यवर्धक तत्त्व है। वियोगिनी के भावों एवं अनुभावों के साथ ही प्रकृति से तदरूपता का भी उपस्थापन किया गया है।

निष्कर्षतः जायसी ने पद्यावती में ऋतुवर्णन में परवर्ती रीतिकालीन कवियों जैसे घेमेल टूसःठास या उक्तिचातुर्य की कलाबाजियों का भद्दा प्रदर्शन नहीं किया है इनके वर्णन में सबसे बड़ी विशेषता व्यंजना का सारल्य और लोकजीवन के विविध रूपों की सीधी, सहज किंतु अत्यंत मार्मिक समर्थ अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति की है । लोकजीवन और उसके उपादानों के यथार्थ चित्रण से जायसी सिद्धहस्त थे ।



भ्रमर गीत वागवैधगद्य या उपालम्भ काव्य

भ्रमर गीत सूर की एक उत्कृष्ट कृती है। काव्य रूप की दृष्टि से कुछ विद्वान् इस दूतकाव्य की परंपरा तथा कुठ विद्वान् इस कृति को विप्रलम्भ, उपालम्भ या व्यंग्य काव्य की श्रेणी स्थापित करते हैं। जहाँ तक दूत काव्य का प्रश्न आकांक्ष दूत -काव्यों में प्रेमी अपना संदेश तो दे देते हैं, पर उस संदेश को दूसरे पक्ष पेषित करना दूतकाव्य की अनिवार्य कथा रूढ़ि नहीं है। कुछ दूर काव्यों में संदेश को पहुँचाया भी गया है, पर इनकी संख्या न के बराबर है। सूर के भ्रमरगीत की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें मात्र प्रेम और विरह की दशाओं का चित्रण नहीं है अपितु व्यंग्य और वैदग्ध्य का आधिक्य इतना हो जाता है कि पाठक इसे संदेश काव्य न मानकर उपालम्भ काव्य मानने को बाध्य हो जाता है।

प्रस्तुत निबंध में विकास के पूर्व भ्रमरगीत शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। यह शब्द 'भ्रमर' एवं गीत शब्दों के योग से बना है। भ्रमर श्याम वर्ण का एक लघु, उड़ने वाला जीवधारी होता है जिसे मधुव्रत, मधुप, अलि, द्विरेक, षटपद, चँचरीक, आलिन्द, सारंग भृंग, भौरा आदि अन्य अनेक नामों से भी पुकारते हैं। इस जीवधारी का रंग श्याम (काला) होता है, उसके शरीर पर पीत चिन्ह होता है तथा उड़ने के लिए पख होते हुए भी उसके षट्पद होते हैं। दूसरा शब्द गीत गान का पर्याय होता है। इस प्रकार भ्रमरगीत शब्द का शाब्दिक अर्थ हो सकता है - भ्रमर का गान अथवा भ्रमर को लक्ष्य करके लिखा गया गान।

भ्रमरगीत का उपर्युक्त अर्थ सामान्य कोटि में आता है, परंतु साहित्य में इस शब्द का अर्थ विशेष कोटि में आता है। उसका संबंध राधा एवं गोपियों के आराध्य तथा नन्द यशोदा के वात्सल्य पात्र श्रीकृष्ण तथा उनके ज्ञान मूढ़ सखा उद्धव से हैं। उद्धव का भी वर्ण श्याम था। वे योगी थे। अतः पीत वस्त्र धारण करते थे। इस प्रकार भ्रमर से उनके वर्ण एवं वेष का साम्य था। अन्तर्मुखी साधना में रत हरकर वे कलम संपुट में बन्द हो मौन समाधि लगाने वाले भ्रमर की समानता प्राप्त कर चुके थे। अतः कवि प्रतिभा के माध्यमसे 'भ्रमर' के प्रतीकार्थ में सन्मानित हो गये। इस प्रकार 'भ्रमर गीत' का अर्थ हुआ उद्धव को लक्ष्य करके लिखा गया गान -

मधूकर ! जानत है सब कोऊ ।

जैसे तुम और मौत तुम्हारे गुननि निपुन हौ दोऊ ।

पाके चोर हृदय के कपटी, तुम कारे, और बोऊ ॥

किन्तु भ्रमरगीत का अर्थ यहीं तक सीमित न रहा। उद्धव से आगे बढ़कर कवि प्रतिभा ने श्रीकृष्ण में भी भ्रमर का वर्ण-वेशश साम्य खोज निकाला। श्रीकृष्ण का वर्ण श्याम माना गया है, जो भ्रमर से मिलता है। वे पीताम्बर धारण करते थे और भ्रमर के अंग पर भी पीत चिन्ह होता है। वे स्वकण्ठ से वंशी की मधुर ध्वनि उत्पन्न कर रसियों का मन मुग्ध किया करते थे और भ्रमर भी स्वगुंजन से सबका मन मोहित करता है। श्रीकृष्ण राधा एवं गोपियों का प्येगम छोड़कर मथुरा चले गये थे एवं भ्रमर भी एक पुष्प का प्रेम तुकराकर दूसरे पुष्प पर उड़ जाता है। इस प्रकार दोनों ही भ्रमणशील माने गये हैं। भ्रमर यदि पुष्प रस चुरात है तो श्रीकृष्ण ने भी गोकुल में गोरस की चोरी की थी। पुष्पों का प्रेमी होने के कारण यदि भ्रमर कपटी एवं शठ है, तो श्रीकृष्ण का प्रेम चांचल्य एवं शठ

नायकत्व भी उससे कुछ कम न था । अंतः कवियों की अद्भुत सूझ ने उन्हें भी भ्रमर के प्रतीकार्थ में सम्मिलित कर दिया -

कोऊ कहै री । मधुप भेस उनही को धारयौ ।
श्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकारयों ॥
वा पुर गो-रस चोरी कै आयो फिरि यहि देस ।
इनको जनि मानहु कोऊ कपटी इनको भेस ॥

इस प्रकार भ्रमर का प्रतीकार्थ उद्धव एवं कृष्ण तक विस्तृत हुआ तथा भ्रमरगीत श्रीकृष्ण एवं उद्धव संबंधी गान का सूचक बना । उधर भी अपना प्रतीकार्थ देकर उस गान से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ उसके माध्यम से बाह्य प्रकृति भी 'भ्रमरगीत' की भाव सीमा में सम्मिलित हो गई है । डॉ. सत्येन्द्र ने 'भ्रमर' शब्द का अर्थ - भ्रम में पड़ा हुआ या भ्रम में डालने वाला भी लगाया है । "भ्रमर" के पूर्वोक्त दोनों प्रतीकार्थों - श्रीकृष्ण एवं उद्धव से इन दोन अर्थों की पूर्ण संगति बैठ जाती है । यदि श्रीकृष्ण भ्रम में डालने वाले भ्रमर थे तो उद्धव भ्रम में पड़े हुए भ्रमर थे ।

जब कृष्ण कंस के निमन्त्रण पर अक्रूर के साथ मथूरा चले गये, वहाँ कंस को मारकर उन्होंने अपने पिता वसुदेव और देवकी का उद्धार किया । वे अवधि बीत जाने पर भी गोकुल न गए । बहुत दिनों बाद श्रीकृष्ण ने ज्ञानोपदेश द्वारा गोपियों को समझाने के लिए अपने सखा उद्धव को ब्रज में भेजा । उद्धव के ब्रज पहुँचते ही ब्रजवासियों ने उन्हें घेर लिया । वे जैसे ही कृष्ण संदेश की चर्चा छेड़ते हैं, वैसे ही एक भ्रमर उड़ता हुआ गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है, तो गोपियाँ उसी भ्रमर को संबोधित करके, जो मन में आता है, कहदती हैं-

पूछन लगीं ताहि गोपिका 'कुब्जा तोंहि पठायों'
केधों सूर श्यामसुन्दर को, हमें संदेशों लायो ।

इस कारण इस प्रसंग का नाम भ्रमर गीत पड़ा है, उद्धव उनके प्रेम भरे उलाहनों को सुनते हैं, तब उनका ज्ञान गर्व नष्ट होता है - वे विराग की 'तुमड़ी में प्रेम का रस भर लेते हैं ।

सूरदास का भ्रमरगीत भावुकता, सरसता, चतुरता एवं वाग्विदग्धता की दृष्टि से हिन्दी काव्य की अमूल्य सम्पत्ति है । पुरुष के हृदय को, जो कठोरता के आवरण में नवनीत सी कोमलता छिपाए रहता है, सहृदय एवं भावुक बनाने के लिए नारी हृदय की कोमलता मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु वाक्चातुरी एवं वाग्वैदग्ध के सरस आघात भी उसके लिए अपेक्षित हैं, तभी उसकी कठोरता का आवरण टूटकर अलग हो सकता है । सूर की गोपियों में हम इन दोनों बातों का पर्याप्त विकसित रूप पाते हैं । वे बड़ी वाग्विदग्धता एवं चातुरता से उद्धव के कठोर उपदेशों का सरस तर्कों से उत्तर देती हैं और श्रीकृष्ण के लिए अनेक उपालंभ सुनाकर अद्भूत वक्रोक्तियों से उन्हें इनता छका देती हैं कि वे अपना निर्गुण का भारी भरकम आवरण उतार फेंकने की तैयारी करने लगते हैं । वस्तुतः सूर ने अपने समस्त भ्रमरगीत को, सहृदयता, भावुकता, चतुरता एवं वाग्विदग्धता की अनेक उक्तियों से भरकर अत्यंत सरस बना दिया है ।

सूर के भ्रमरगीत में जो चातुरता एवं वाग्वैदग्धता पाई जाती है, वह उक्ति चमत्कार के अतिशयता से प्रसूत नहीं है, अपितु उसमें हम भावतिरेक का स्पष्ट दर्शन करते हैं । जिस प्रकार किसी बाह्य कारण से सरोवर का जल हिल उठता है और उसमें उठनेवाली वक्र तरंगे विभिन्न रूपों

में स्पन्दित होती हुई तट तक अपना रूप सौन्दर्य बिखेरती हैं, उसी प्रकार सूर के हृदय में भी गोपियों की विरह व्यथा को छेड़ने वाले उद्धव के कारण उठती हुई भाव लहरों की सरस वक्रोक्तियों के रूप में अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने अपनी वाणी को जब गोपियों की विरह व्यथा का रूप देकर भक्ति एवं प्रेम की रक्षा के लिए उद्धव के ज्ञान तथा योग को ललकारा है, तब उनकी समस्त सहृदयता एवं भावुकता स्वतः चतुरता एवं वाग्विदग्धता का सहारा लेकर अभिव्यक्त हो उठी है। कंस के आमंत्रण पर मथुरा आये हुए कृष्ण जब उसे मारकर वहीं रहने को विवश होते हैं, तब वे अत्यंत मार्मिक शब्दों में गोकुलवासियों का इस प्रकार स्मरण करते हैं –

सुनहुँ उपंग सुत मोहि न बिसरत
 ब्रजवासी सुखदाई ।
 यह चित्त होत जाऊँ मैं अबही,
 यहाँ नहीं मन लागत ।

किन्तु उसकी इस भावुकता में उनकी सहृदयता एवं वाक्चातुरी का भी सुंदर सम्मिश्रण हुआ है, जो इस पद से स्पष्ट व्यंजित हो रहा है।

कहियो नंद कठोर भये
 हम दोऊ बीरैं डारि घर घर मानों सौंपि गये ।
 तनक तनक तै पालि बड़े किए बहुतै सुख दिखराये
 गो चारन को चलत हमारे पाछे कोसक धाये ॥

कैसी सहृदयता एवं वाग्विदग्धता तथा चतुराई के साथ इस पद में कृष्ण ने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। गोपियों में तो यह सहृदयता, भावुकता वाग्विदग्धता एवं चातुरता सर्वाधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है। इसके लिए एक नारी में जिस सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, वह सूर ने गोपियों को उनकी सहृदयता एवं भावुकता में चातुरता एवं वाग्विदग्धता का समावेश करके पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत की है। जिस समय सर्वप्रथम उद्धव गोपियों को योग और निर्गुण साधना का उपदेश देते हैं, उस समय साकार कृष्ण को मन में ही छिपाकर वाक्पटुता दिखाती हुई कहती हैं। सूर की सहृदयता एवं भावुकता से समन्वित ऐसी चतुरता वाग्विदग्धता के उदाहरणों से भ्रमर गीत भरा पड़ा है –

आयो घोष बड़ौ व्यापारी ।
 लादी खेप गुन ज्ञान जोग की, ब्रज में आई उतारी ॥
 इनके कहे कौन उहकावै, ऐसी कौन अजानि ।
 अपनी दूध छाड़ि को पीवै खार कूप को पानी ॥

सहृदयता एवं वाग्विदग्धता की इतनी सहज अभिव्यक्तिसूर की ही विचित्र प्रतिभा का काम है। उनकी गोपियाँ एक और तो उद्धव को चतुरता एवं वाग्विदग्धतापूर्ण उपालम्भ सुनाती हैं, और दूसरी ओर अपनी भावुकता की बाढ़ को भी नहीं रोक पाती। अब उनकी वेदना हृदय की समाओं के बाहर होने लगती है, तो वे अत्यंत सहज भाव से अपनी रात्रि तड़पन को उद्धव को सुनाए बिना नहीं रहती। अंत में थककर वे उद्धव को बता देती हैं –

मधुकर ! जोग न होत संदेशन ।

रवि के उदय मिलन चकई को संध्या समय अँदेसन
 क्यों बन बसै बापुरे चातक, बधिकन्ह काज बधे सन ।
 नगर एक नायक बिनु सुनो, नाहिन काज सबै सन ।
 सूर सुभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रिसि डसैसन ।

किंतु कभी कभी उनकी सहृदयता भावविदग्धता तथा उपालम्भ इतना अधिक बढ़ जाता है कि वे यह कहने को बाध्य हो जाती है

सखी री हरिहि दोष जिन देहू ।
 जातें इते मान सुख पैयत, हमरेहु कपट सनेहु ॥
 विद्यमान अपने बन नैनन्ह, सूनो देखत गेहु ।
 तदपि सूल ब्रजनाथ विरह से भिदि न होत बढ़बहु ।

सारांश यह है कि भक्त शिरोमणि सूरदास में जितनी सहृदयता एवं भावुकता है उतनी ही चतुरता वाग्विदग्धता भी है । उनकी गोपियों के मुख से निःसृत एक एक पंक्ति इसका प्रमाण हैं, जैसाकि पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है—

ताको कहा परेखो की जै जानत छाँछन दूधो ।
 सूर-मूर अकूर गये लै ब्याज निबेरत उधो ॥

शास्त्रों में वर्णित है कि उक्ति वक्रता रस की प्रतीति कराने का सशक्त साधन है । इसीलिए उक्तिवैचल्य अथवा वक्रोक्ति का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया गया है । आचार्यों ने वक्रोक्ति के दो सीमान्तवर्ती अर्थ लिए हैं । एक अत्यंत व्यापक अर्थ जिसमें वक्रोक्ति संपूर्ण कवि कौशल का पर्याय माना गया है, और जिसके प्रवर्तक आचार्य कुंतक थे, दूसरा भोजराज और मम्मट आदि का अति सीमित अर्थ जिसमें वक्रोक्ति का शब्दालंकार मात्र ही है । हम यहाँ पर वक्रोक्ति अथवा उक्तिवैचल्य का अर्थ सामान्यतः ग्रहण कर रहे हैं । सूर काव्य में भाव प्रेरित कथन की वक्रता अधिकांश स्थलों पर प्राप्त होती है । कवि ने कखन के सीधे ढंग को छोड़कर वक्रता का सहारा लिया है । सूर के उक्तिवैचल्य का अधिकांश चमत्कार 'भ्रमरगीत' के बिखरे हुए संवादों में वचन चातुरी के रूप में देखने को मिलता है ।

राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन में भाव प्रेरित विदग्धता के दर्शन होता है । अति सूक्ष्म वार्ता में उक्ति की वक्रता दोनों और परस्पर प्रीति का आमंत्रण देती है । कृष्ण और राधा के निम्नलिखित कथन ऐसी मर्मभेदी प्रभाव रखते हैं कि दोनों आजीवन प्रेमपाश में बँध जाते हैं । कटु वचनों की इस सुधात्व का रहस्य उक्ति की वक्रता की है ।

काहे को हम ब्रज तन आवति,
 खेलति रहति अपनी पौरी ।
 सुनत रहति स्रवननि नंद दोटा,
 करत फिर माखन दधि चोरी ।
 तुम्हरो कहा चोरि हम लैहें ,
 खेजन चलो संग मिली गोरी ।

पनघट लीला भी कृष्ण और गोपियों की नोक झोंक का विसद वातावरण प्रस्तुत करती है । कृष्ण एक गोपी की गागरी ढरका देते हैं । वह कृष्ण की लकुटी छीनकर खड़ी हो जाती है और एक वक्र भंगिमा से कहती है ।

एक गाँव इक ठाँव बास, तुम कै हौ क्यों मैं सैहो ?

सूर श्याम में तुम न डरैहों ज्वाब स्वाल को दै हों ।

इफ्रम में दोनों पक्ष में उत्तर प्रत्युत्तर का एक मनोहारी वर्णन प्रस्तुत हैं –

कहा ठग्यो तुम्हरौ ठगि लीन्हौं

क्यों नही ठग्यो और कह ठगिहौ, औरहिं के ठग चीन्हौ ॥

कहो नाम धरि कहा ठगायौ, सुनि राखैं यह बात ।

ठग के लच्छन मोहि बतावहु, कैसे ठग के घात ॥

ठक ले लच्छन हमसौं सुनि हौं, मृदु मुसकनि चित्त चोरत ।

नैन सैन दै, चलत सूर प्रभु तन त्रिभंग करि मोरत ॥

गोपियों ने कृष्ण की ठगी का विश्लेषण वचन चातुरी द्वारा ऐसा किया कि कृष्ण निरुत्तर हो गए ।

‘भ्रमरगीत’ तो वक्रोक्तियों का सर्वश्रेष्ठ स्थल है । कहीं शब्द, कहीं अर्थ, कहीं उपमान को लेकर यहाँ सूर ने अनेक भाव प्रेरित वक्रोक्तियाँ प्रस्तुत की हैं । भ्रमरगीत को वक्रोक्तियों को हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं – विनोद, उपहास, व्याज, निंदा और कटुक्ति ।

विनोद, विरोध का शिष्ट रूप है, मीठी होते हुए भी इसकी चोट मर्मस्थल पर बड़ी गहरी और अचूक पड़ती है । अंतःस्थल के विरोध को गोपियाँ दबा लेती हैं और रोचक ढंग से उक्ति की फूलझड़ियाँ उछालती हैं । इनसे कथन में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और उनके हृदय की वेदना अधिक तीव्रता के साथ व्यक्त हो जाती है । वे बड़ी मिठास के साथ उद्धव पर फब्बतियाँ कसती हैं—

उधौ श्याम सखा तुम साँचे ।

की करि लियौ स्वाँग बीचहि में, वैसेहि लागत काँचे ।

जैसी कही हमहिं आवत ही, औरननि कहि पछिताते ।

अपनौ पति तजि और बतावत, महमानी कुछे खाते ॥

गोपियों की शंका करना कि उधौ सच्चे सखा हैं या कच्चे और फिर यह कहना कि उधौ सच्चे सखा हैं । विनोद और व्यंग से युक्त है । कथन में भालापन है । घनिष्टता भी प्रकट की गई है और क्षोभ भी । कैसा तीखा वार भी है कि हमने तो कृष्ण सखा समझकर छोड़ दिया नहीं तो जो बात हमारे लिए कही है, और के लिए कहते तो कुछ मेहमानी अवश्य खाते ।

गोपियाँ शंका करती हैं कि उद्धव जी कहीं अपना रास्ता भूल तो नहीं गए । फिर वे कृष्ण की विनोदी प्रकृति जानकर अनुमान लगाती हैं कि कहीं कृष्ण ने जान बूझकर उधौ को मूर्ख तो नहीं बनाया ।

उधौ जाहु तम्है हम जाने

श्या तुम्हि ह्याँ नाहि पठायों, तुम हों बीच भुलाने

साँच कहौ तुमको अपनी साँ बुझति बात निदाने ।

सूर श्याम अब तुमहि पठयो, तब नैकहु मुसकाने ॥

यहाँ पर गोपियों नारि सुलभ वक्रता द्रष्टव्य है । विनोद की अपेक्षा उपहास में विपक्षी को तुच्छ सिद्ध करने की भावना अधिक होती है । इसमें हास्य भी अधिक स्पष्ट और विकृत होता है । स्वयं निंदा न करते हुए भी विपक्षी को निन्दित ठहराना इसका लक्ष्य होता है । उपहास में सख्य भाव की प्रधानता होती है । सूर ने गोपियों के माध्यम से कृष्ण और उद्धव का उपहास प्रस्तुत किया है । गोपियों का उपहास उद्धव जी के जोग को स्पष्ट करता है ।

उधौं जोंग बिसरि जनि जाहु ।

बाँधो गाँठि छूटि परिहै कहूँ, फिर पाछे पछिताहु ॥

ऐसो वस्तु अनुपन मधुकर, मरम ना जाने और ।

ब्रत बनितन के नहीं काम की, है तुम्हारै ठौर ॥

गोपियाँ व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर कस कर ही योग की खिल्ली उड़ाती हैं । योग को इस प्रकार जाँचना उसकी सारी महत्ता को नष्ट करना है । योग ओढ़ा जाता है । या बिछाया जाता है । वह कोई सुंदर खिलौना है या गहना, यह सब उपहास का ही ढंग है ।

उधौ जोग कहा है कीजतु

ओढ़ियतु है या बिछावतु है किधौ खैयतु है किधौ पीजतु ।

किधौं कुछ खिलौना सुंदर, की कछु भूषण नीको ।

हमरे नंद-नंदन जो चाहियतु, मोहन जीवन नीको ॥

उपहास में उपहास करने वाला स्वयं निंदा नहीं करता उपादान मात्र एकत्रित करके रख देता है जिससे सभी लोग आलोच्य की निंदा करने लगे । व्याज निंदा में वह स्वयं निंदा करता है । किंतु सीधे शब्दों में नहीं वरन् स्तुति द्वारा । इस प्रकार व्याज निंदा का मूल उक्ति वैचित्य है । गोपियों ने कृब्जा और ऊधव तीनों की मोरंजक सराहना की है । कृष्ण के त्याग-भाव की प्रशंसा में वे कहती हैं-

मथि-मथि सिंधू सूरन को पोखे संभु भये विष आसी ।

इन हति संकराज औरहिं दे चाहिलई इक दासी ॥

विनोद, उपहास और व्याज निंदा में विरोध का साधन ध्वनि है । प्रत्यक्ष रीति से मन्तव्य नहीं प्रकट किया जाता, परंतु कटुक्ति में सारा विरोध कथन सीधे शब्दों में होता है । कटुक्ति के तीर सीधे जाते हैं और विषैले तथा अगियारे होने से लगते ही जलन उत्पन्न करते हैं । सूर की गोपियाँ जली-कटी खूब सुनाती हैं । किंतु भाषा में संयम है । कृष्ण के थोथे प्रेम की आलोचना करती हुई एक गोपी उनके चरित्र पर आपेक्ष करती है ।

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ ।

अब हरि गोकुल काहे को आवत, भावत नव जोबनियाँ ॥

सुरदास प्रभु वाके बस परि, अब हरि भये चिकनियाँ ।

सूर की गोपियाँ तो भागवत की गोपियों से न्यारी हैं । भागवतकार ने अपनी गोपियों में अति प्राकृतत्व का इतना आरोप कर दिया है कि वे अपनी गोपियों में प्राकृत और अति प्राकृत के बीच में त्रिशंकु के समान दीख पड़ती हैं ।

कभी-कभी तो ऐसा आभार होने लगता है कि उन्हें अपने पूर्व जन्म की स्मृति है, और भगवान के दर्शन के लिए ही गोपी रूप में अवतरित हुई हैं । अतएव भागवत् की गोपियों में स्वाभाविकता नहीं है । सुरदास की गोपियाँ ब्रज की भोली - भाली सरल नारियाँ हैं जो मानवीय दुर्बलताओं का अपवाद नहीं है । उनकी प्रकृति में बांकपन, अल्हड़ता और विनोदप्रियता है । वे प्रेम की बातों के साथ साथ प्रेम की घातें भी करना जानती हैं । जो संभवतः उन्होंने अपने नायक से सीखी हैं 'भ्रमरगीत' में गोपियों की जिन वृत्तियों का चित्रण सूर ने किया है वह किसी भी साहित्य में अप्राप्य हैं ।

राधा, कृष्ण चरित्र की प्रधान नायिका है । राधा और कृष्ण के अनेक प्रेम - प्रसंग सूर ने उपस्थित किए हैं । अब राधिका का मन कृष्ण का राधिका के बिन प्रसन्न नहीं रहता है । दान लीला के अवसर पर अब राधा ने अपने हृदय की व्यथा कृष्ण के सम्मुख रखी तो कृष्ण ने राधा को अपने वास्तविक प्रकृति पुरुष संबंध को समझाकर लोकलाज से न उरने की सम्मति दी । 'भ्रमरगीत' प्रसंग में भी राधा के अत्यंत मार्मिक चित्र कवि ने उपस्थित किए हैं । इस लंबे चौड़े वार्तालाप में उद्धव को राधा की वाणी एक बार भी न सुनाई दी । उसे तो उन्होंने केवल माधव माधव रटते हुए ही देखा । गोपियों ने ही उसकी और से विरह निवेदन किया और अतिमलीन वृषभानु कुमारी की दशा दिखाई कृष्ण के पास पहुंचकर गोपियों के प्रति संदेश देते हुए उद्धव ने राधिका ही की विरहावस्था का सबसे अधिक हृदयविदारक चित्र उपस्थित किया है ।

चित्त दै सुनहु श्याम प्रवीन ।

हरि तुम्हारे विरह राधा मैं जुदेखी छीन ॥

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि 'भ्रमरगीत' केवल उपालम्भ काव्य ही नहीं अपितु चरित्र चित्रण और भावाभिव्यंजना की दृष्टि से भी अद्वितीय है । इसमें गोपियों की भी अपनी पृथक सृष्टि है । वास्तव में उद्धव, गोपियों और राधा के चरित्र का मनोहारी चित्र उपस्थित कर सूर ने 'भ्रमरगीत' को साहित्य की अनुपम निधि बना दिया है ।



भ्रमर गीत - ज्ञान पर भक्ति की विजय

सूर काव्य में भ्रमरगीत का अपना अलग स्थान है। भ्रमरगीत सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न है। भ्रमरगीत नौसिखिए सूर की रचना नहीं है अपितु, एक अनुभवी महात्मा और महान प्रतिभाशाली कवि की रचना है। अनेक वर्षों तक भक्ति सागर में गोता लगाने एवं विस्तृत संसार का सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात सांसारिक लोगों को निर्गुण के कंटाकाकीर्ण मार्ग से बचकर उन्हें भक्ति का विशद राजमार्ग दिखाने के लिए ही भ्रमरगीत की रचना की गई है। ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्व व्यापकता भेदभाव की शून्यता सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ा जिस पर चलकर अपढ़ इतना ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टढ़े - मेढ़े अभ्यासों को ही सब कुछ मान बैठी तथा दंभ अहंकार आदि दुःवृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले लोग उसके पारंगत पंडितों से मुँह जोरी करने लगे। अज्ञान से जिनकी आँखे बंद थीं वे ज्ञान- चक्षुओं को आँख दिखाने लगे। जैसे तुलसी के मानस में यह लोक विरोधी धारा खटकी वैसे ही सूर की आँखों में थी। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में और कड़ी से इसका परिहार करते ही ठानी। प्रबंध का क्षेत्र चुनने से उन्हें इसके लिए विस्तृत भूमि मिल गई। पर गीतों में सूर ने इसका प्रतिवाद प्रत्यक्ष नहीं प्रच्छन्न रूप से किया। उन्होंने उद्धव प्रसंग में 'भ्रमरगीत' के भीतर इसके लिए स्थान निकाला। उद्धव के योग और ज्ञान का जो प्रतिकार गोपियों ने 'सूरसागर' में किया वह सर की योजना है।

ज्ञान और योग की साधना भली न हो, सो नहीं। वस्तुतः वह कठिन है, सामान्य विद्या-बुद्धि वालों की पहुँच से परे है। पक्ष में उद्धव ऐसे ज्ञान वरिष्ठ पुरुष और विपक्ष में ब्रजवासिनी ऐसी ज्ञान - कनिष्ठ स्त्रियों को खड़ा करके सूर ने ज्ञान एवं योग का प्रतिरोध साधारण जनता की दृष्टि से किया। ज्ञान की ऊँची तत्त्वचिंता उनके लिए नहीं। ज्ञानयोग के प्रतिपक्ष में प्रेमयोग का मंडन करके यह प्रतिपन्न किया गया है कि भक्ति की भी वही चरमावधि है जो ज्ञान की -

अहो अजान । ज्ञान उपदेशत ज्ञानरूप हमहीं

निशिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि ! देखत जित तुतहीं

सूर ने ज्ञान या योग मार्ग को संकीर्ण, कठिन और नीरस तथा भक्ति मार्ग को विशाल, सरल और सरस कहा है। ज्ञान का योग का अभ्यासी विश्व की विभूति से अपनी वृत्ति समेटकर अंतर्मुख हो जाता है। इसलिए गुह्य रहस्य एवं उलझन की वृद्धि होती है। पर भक्ति का अनुरागी बहिर्मुख हो जाता है। इसलिए गुह्य रहस्य एवं उलझन की वृद्धि होती है। पर भक्ति का अनुरागी बहिर्मुख रहता है। वह जगत् के उर्जस्वित रूपों में अपनी वृत्ति रमाए रहता है। उसके लिए सब कुछ सुलझा हुआ है। इस प्रकार भक्ति का मार्ग चौड़ा, निष्कंटक और सीधा है। उसमें गोपन, रहस्य या उलझाव कहीं नहीं -

काहे को रक्त मारग सूधो ।

सुनहु मधुप ! निर्गुण कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधो ॥

यो तो संपूर्ण सूर-साहित्य पर भागवत की स्पष्ट छाया है। किंतु एक महान कवि के अनुरूप उन्होंने प्रत्येक स्तल को अपनी प्रतिभा के रंग में रंगकर मौलिक बना डाला है। भ्रमरगीत का प्रसंग भागवत में भी आया है किंतु अत्यंत संक्षेप में है और उसका उद्देश्य भी सूर के भ्रमरगीत से भिन्न है। भागवत के अनुसार कृष्ण राजनैतिक कारणों से जो एक बार मथूरा जाते हैं तो फिर वहाँ की राजनीति में इतने विंध जाते हैं कि फिर लौट नहीं पाते। कृष्ण के ब्रज आने की अवधि जब समाप्त हो जाती है तो संपूर्ण ब्रज उन्हें विरह में आकुल व्याकुल होने लगता है। गोपियाँ विशेष रूप से व्यथित हैं। गोपियों की विरह व्यथा को शांत करने अथवा कम करने के लिए श्री कृष्ण अपने ज्ञानी सका उद्धव जी को ब्रज भेजते हैं। उद्धव वहाँ जाकर अपने ज्ञान मार्ग का प्रसार करते हैं और ब्रजवासियों को समझाते हैं कि कृष्ण परब्रह्म के अवतार हैं। व्यक्ति नहीं है इसलिए कृष्ण का मोह छोड़कर सबको निराकार ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए क्योंकि वह सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी आणि सर्वान्तरयामी है। भागवत में गोपियाँ उद्धव के ज्ञान संदेश से प्रभावित होती हैं और निराकारोपासना के लिये तैयार हो जाती हैं। भागवत में यह ज्ञानमार्ग की विजय है। इसी बीच में एक भ्रमर आ जाता है और गोपियाँ उसके माध्यम से कृष्ण पर कुछ व्यंग्य करती हैं।

भागवत में तो भ्रमरगीत का प्रसंग बस इतने ही संक्षेप में है किंतु काव्य के लिए उसका प्रयोग यह सर की प्रतिभा की अपनी विशेषता है और फिर भ्रमर गीत से सूर ने अपने उद्देश्य की सिद्धि भी की है। उन्होंने भ्रमरगीत के द्वारा निर्गुण का खंडन किया है और साकारोपासना का समर्थन या प्रसार किया है। भ्रमरगीत में उद्धव की पराजय, ज्ञानमार्ग की पराजय और निर्गुण का खंडन तथा भक्ति और सगुणोपासना की विजय दुंदभी ही है।

यह स्मरणीय है कि सूर ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की है।

१. पहला भ्रमरगीत भागवत का उल्था मात्र है जिसमें ज्ञान वैराग्य आदि की ही अधिक चर्चा है किंतु जहाँ भी सूर को अवसर मिला है उन्होंने ज्ञान की महत्ता बढ़ाने का प्रयत्न किया है। यह भ्रमरगीत चौपाई छंद में लिखा गया है। इस भ्रमरगीत से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभ से ही सूर का दृष्टिकोण भागवत से भिन्न है।

२. दूसरा भ्रमरगीत पदों में रचा गया है। पहले भ्रमरगीत और इसमें भ्रमर के आने की चर्चा नहीं है। मधुकर नाम से ही उद्धव पर व्यंग्य किए गए हैं।

३. तीसरे भ्रमरगीत की रचना भी पदों में ही हुई किंतु वह दो अन्नय भ्रमरगीतों से अधिक विस्तृत काव्यपूर्ण एवं आकर्षक है। इसमें पहली बार भ्रमर उड़कर आता है उस समय जब उद्धव गोपियों से बात कर रहे हैं और गोपियाँ उसी भ्रमर के माध्यम से उद्धव और कृष्ण पर व्यंग्य बाणों की वर्षा करने लगती हैं। सूर का यही भ्रमरगीत हिंदी साहित्य का गौरव है, और उसकी अक्षय निधि है।

इतनी वचन वक्रता, साहित्यिक व्यंग्य की इतनी पद्धतियाँ जितनी शुक्लजी के शब्दों में अभी नामकरण या वर्गीकरण तक नहीं हुआ है, इसी भ्रमरगीत में है। इस भ्रमरगीत में सूर ने खुले शब्दों में निराकार का खंडन और साकार का मंडन किया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के द्वारा प्राप्त अपरिमित ज्ञान की सूर इस भ्रमरगीत में साहित्यिक या काव्यात्मक अभिव्यक्ति दे सके हैं। यो सूर के बक्त जीवन के प्रारंभ से ही उनकी निर्गुण में अधिक रूची नहीं रही क्योंकि वे जानते थे कि निराकारोपासना में आधार के अभाव में मनुष्य का निरालंब मन चक्र के समान भ्रमित रहता है। अतः प्रारंभ से ही वे सगुण प्रभु के गान को ही स्पृहणीय समझते रहे।

सूर के इस भ्रमरगीत में पहली बार सूर के भक्ति विषयक विचार स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। भागवत में अद्यपि भक्ति का विरोध नहीं किया गया है किंतु ज्ञान की विज.दिखाकर प्रकारांतर से भक्ति की हीनता प्रतिपादित की गई है। इसी प्रकार यदि सूर चाहते तो बिन ज्ञानमार्ग की निंदा किए केवल सगुण भक्ति की वजय दिखाकर ज्ञान और योग की हीनता प्रदर्शित कर सकते थे, पर उन्हें यह पसंद नहीं था। इसलिए सगुण भक्ति के प्रचारक के रूप में उन्होंने सि भ्रमरगीत में निर्गुण का निर्मम विरोध किया है और गोपियों के समक्ष ज्ञान के प्रतीक उद्धव की पराजय दिखाकर उन्होने सगुण भक्ति की पताका ही ऊँची रखी है।

ज्ञान के प्रतीक उद्धव अपने हृदय में अपार साहस और मस्तिष्क में ज्ञान का अपार दंभ लेकर आए थे कि जाते जाते गोपियों की आस्था सगुण भक्ति से हटाकर निर्गुण में कर सकेंगे। वे केवल अपनी ही बात सोचकर ब्रज में आए थे जैसे दूसरे पक्ष के पास कहने योग्य कुछ सामग्री ही नहीं है और फिर भोली भाली गोपियाँ उनके ज्ञान को चुनौती देंगी। इसकी कल्पना तो उन्होंने स्वप्न में भी न की होगी। उद्धव ब्रज में आकर अपना भाषण प्रारंभ करते हैं और गोपियों को बताते हैं कि तुम सब लोग अभी तर भ्रम में पड़ी हुई हो, सबका आराध्य तो निर्गुण ब्रह्म ही है जिसकी रूपदेखा का वर्णन नहीं किया जा सकता, वह वर्णनातील है, उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है विश्लेषण नहीं। जिन श्रीकृष्ण को तुम प्रेम करती हो, वे ब्रह्म के ही प्रतीक हैं। उनका बाह्य रूप मिथ्या है। जिससे तुम प्रेम करती हो, इस प्रकार के प्रेम से तो तुम्हारा चित्त अस्थिर और अशांत ही रहेगा। सच्ची शांति प्राप्त करने के लिये योग का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। योग में दक्षता प्राप्त करने के लिए कुछ शारीरिक साधनाओं की अपेक्षा है जो साधारण कठिनाई के पश्चात संभव हो सकेगी। उद्धव ने समझा था कि उनका भाषण इतना सारगर्भित, विचारोत्तेजक और मार्मिक है कि किसी को उनके ज्ञान और योग के प्रवचन पर शंका नहीं हो सकती है। यह उनके लिए कल्पनातीत बात थी। किंतु अचानक एक गोपी खड़ी हो गई और अपनी शंका को उसने इस सीधे साधे शब्दों में प्रकट किया -

हे अलि कहा जोग में नीको।

तजि रस रीति नंदनंदन की सिखवत निर्गुण फीको।

उद्धव यह अप्रत्याशित प्रश्न सुनकर भौचक्के रह गए। यह तो बड़ा अपशकुन हुआ। ये मुख गोपियाँ निराकार ब्रह्म को चुनौति देने लगीं, यह तो बड़ी असह्य बात है। अभी उद्धव इस अप्रत्याशित संकट से अपना पीछा भी नहीं छुड़ा पाए थे कि एक और गोपी खड़ी हो गई। उसे उद्धव के ज्ञान पर भी शंका है। वह उद्धव से प्रश्न करती है कि हे भले आदमी क्या आपने निर्गुण ब्रह्म का दर्शन किया है ?

रेख न रूप बरन नहिं जाके, ताको हमें बतावत।

अपनी कहो दरस वैसे को तुम कबहुँ हो पावत ?

इसका उद्धव के पास क्या उत्तर होता, बेचारे निरुत्तर हो गए, शायद न भी होते पर सूर तो उन्हें निरुत्तर ही करना चाहते थे। उद्धव ने देखा कि ऐसे काम नहीं चलेगा, तब उन्होंने एक चाल चली। उन्होंने सोचा कि इस मंडली में कृष्ण के नाम पर कोई बात कही जाएगी तब तो लोग सुनेंगे नहीं तो सुनने को भी तैयार नहीं हैं। अंततः उन्होने गोपियों को विश्वास दिलाया कि ये बातें मेरी मनगढ़ंत नहीं हैं अपितु तुम्हारे प्रियतम कृष्ण का संदेश है। वे चाहते हैं कि आपके विरह का दुःख किसी प्रकार कम हो और मेरे द्वारा प्रचारित संदेश से ही ऐसा संभव हो। अब गोपियाँ जरा चक्कर में पड़ गईं, वे कृष्ण के संदेश की अवहेलना तो नहीं कर सकती थी। परंतु अचानक एक गोपी की

समझ में सब रहस्य आ गया । जरूर इसे कुब्जा ने भेजा है, यह उसी का भेदिया है । वह चाहती है कि हम सब कृष्ण की ओर से विमुख हो जाएं और कृष्ण सदैव मथुरा में ही बने रहें उसने तुरंत उठकर यह घोषित कर दिया ।

मधुकर कान्ह कही नहि होही ।
यह तो नई सखी सिखई है, निज अनुराग वरोही ।
सचि राखी कूबरी पीठि पै ये बातें चकचोही

उद्धव ने बिगड़ती हुई परिस्थिति को संभालने की लाख चेष्टा की, बौद्धिक स्तर पर गोपियों को समझाने का अनंत प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे । लाख प्रयत्नों के बावजूद वे गोपियों में अपनी ज्ञान के प्रति आकर्षण नहीं जगा सके । उद्धव ने कहा आम लोग विविक मत खोइये, मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनिए । वे इस अपमान को सहन न कर सकीं भावावेस में एक ने कहा ही दिया । उद्धव जी हमारा विवेक तो ठीक है परंतु आपका विवेक असंतुलित प्रतीत होता है । पहले अपनी उचित चिकित्सा कराइए क्योंकि आप कहना कुछ चाहते हैं और कह कुछ जाते हैं, ये लक्षण अच्छे नहीं है ।

ऊधौ तुम अपनो जतन करो ।
हित की कहत कुहित की लागै, कत बेकाज ररौ ।
कहू कहत कछुए कहि डारत घुनि देखियत नहिं नीकी ॥

परंतु उद्धव भी अपनी पराजय को स्वीकारना उचित नहीं समझते थे, उन्होंने सोचा कि ये गोपियाँ तो स्त्री जाति की हैं इसलिए मेरे ज्ञान गंभीर्य की थाह नहीं पा रही हैं । मेरा कर्तव्य तो उन्हें उचित मार्ग बताना ही है, यह सोचकर उद्धव ने फिर योग का संदेश देना प्रारंभ किया । शास्त्रों में योग स्त्रियों के लिए वर्जित है यह बात उद्धव स्वयं ज्ञान के उमंग में आकर विस्मृत कर जाते हैं तब गोपियाँ की उनकी भूल उन्हें बताती हैं और कहती हैं कि उद्धव तुम तो इतने बड़े मूर्ख हो कि यह भी नहीं जानते कि योग की बातें अबलाओं के लिए वर्जित हैं ।

अटपटि बात तिहारी ऊद्धौ, सुनै सो ऐसी को है ।
हम अहीर अबला सठ मधुकर । तिन्हे योग कैसे सोहै ।

उद्धव के बार बार समझाने पर गोपियाँ कहती हैं कि ऐ उद्धव आप अपनी यह ज्ञान चर्चा संभाल कर रखे रहें, इसे ले जाकर मथुरा की नागरी स्त्रियों को बताना क्योंकि वे ही इसकी कीमत ठीक ढंग से जाँच सकेंगी और अपनी सफलता का मान वहीं पर होगा जिस प्रकार मछली को जीने के लिए पानी को छोड़कर और कोई उपाय नहीं है उसी प्रकार हम अबलाओं को कृष्ण चर्चा के अलावा अन्य चर्चा प्राण घातक भी हो सकती है ।

हमको हरि की कथा सुनाव ।
अपनी ज्ञान कथा हे उद्धौ । मथुरा ही लै जाव ।
नागरि नारि भले बूझेगी अपने वचन सुझाव ।
पा लागों, इन बातीन रे अलि । उनहीं जाय रिझाव ॥

उपदेश के लिए पहली बात आचरण है और फिर उपदेश देना जरूरी है क्योंकि बिना आचरण

के उपदेश में प्रभाव नहीं होता है । श्रोता लोग पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे कहके आचरण तीन उपदेशकों की बात उड़ा दिया करते हैं । प्रस्तुत पद में गोपियों ने भी उद्धव की 'कथनी और तथा करनी और की ओर संकेत करके उनके उपदेश की निस्सारता का प्रतिपादन किया है ।

याकी सीख सुनै ब्रज को रे ?

जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि कहत समुझि अति थोरे ॥

धान को गाँव पयार तें जानौ ज्ञान विषय रस भोरे ।

सूर सो बहुत कहै न रहे रस गूलर को फल फोरे ॥

गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा प्रेम केवल वासना की तृप्ति के लिए नहीं अपितु उसमें सतीत्व की दृढ़ और निश्चल भावना है । कली कली का रस चखने वाले बहुरंगी इस प्रेम के महत्त्व को नहीं समझ सकते । जिन्हें इस पवित्र प्रेम की अनुभूति नहीं हुई । वे तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते । आखिर उद्धव के ज्ञान-उपदेश से तंग आकर गोपियाँ साफ कह देती हैं । उद्धव जी । आप योग अपने पास रखिए उसका हम क्या करेगी ? हम तो अपना सर्वस्व पुंडरीकाक्ष श्याम सुंदर को जो नंद और यशोदा के प्यारे हैं, को अर्पण कर चुकी हैं । जो कुछ भी तन मन था वह तो कृष्णार्पण हो गया अब निर्गुण हेतु हमारे पास कुछ भी शेष नहीं है ।

रहु रे मधुकर ! मधुमतवारे

कहा करौं निर्गुन लैं कै हों जीवहु कान्ह हमारे

तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे

घरी पहर सबको बिलमावत तेज आवत कारे ।

जब उद्धव की बकवास बंद नहीं होती वे ऐसी बातें बकते ही जाते हैं तो गोपियों को बेसिर-पैर की गलती है जिनका कुछ स्पष्ट अर्थ नहीं जान पड़ता, तब वे ऊबकर झुँझला उठती हैं और कहती है कि ज्ञान को छोड़कर अज्ञात के प्रति आग्रह करना मूर्खता है । हमारा सगुण ज्ञात है और तुम्हारा निर्गुण अज्ञात । इसी प्रसंग में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आप अपने निर्गुण का रूप रंग, अता-पता और उसके इष्ट रसों का वर्णन करो ताकि हम उसे जानकर अपने भली भाँति परिचित प्रियतम से उसकी तुलना कर सकें ।

निर्गुन कौन देस को बासी ?

मधुकर । हँसि समुझाय, सौं हं दे बूझति साँच न हाँसि ॥

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ।

कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी ।

पावोंगे पुनि कियो आपनो जो रे कहों गे गाँसी ।

सुनत् मौन हवे तह्यौ ठग्यौ सो सूर सनै मति नासी ॥

गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि ब्रज में तो श्रीकृष्ण की सगदुण और साकार लीला ही हुई थी उसे अब हम निर्गुण और निराकार कैसे मान लें । इससे उद्धव की वह उक्ति कट जाती थी कि कृष्ण को निराकार के रूप में तुम्हें देखना चाहिए ।

जाके गुण गावत दिन राता ।

ताकौ निरगुन कहत मधुप तुम नई सुनी यब बात ॥

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ है, इस तथ्य को द्योतित करने के लिए सूरदास जी ने एक बड़ा ही सुंदर दृष्टांत उपस्थित किया है । उनका कथन है कि जिस प्रकार पतंग दीपक से प्रेम करता है और उसकी दिप्त शिखा से भी न डरना हुआ उस पर गिर पड़ता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञान रूप दीपक से सांसारिक दुःख कूप को प्रकट देखता हुआ भी उसमें गिर जाता है । जड़ जंतु कालरूपी व्याल के रजस्तमोमय विषानल में क्यों जलता है ? वह अगम सिंधु को पार करने के यत्नों की नौका सजाकर उसे कर्मों के भार से भरता है, परंतु सूर का व्रत तो यही है कि मनुष्य कृष्ण भक्ति के द्वारा ही इस भवसागर को पार कर सकता है । सूरदास जी के भक्ति विवेचन से ज्ञान होता है कि वल्लभ के मिलन से पहले उनका मन स्थिर नहीं था इसीलिए वे धिधियाते भी थे । यही कारण है कि उनके भक्ति विवेचन में उत्तरोत्तर निश्चित रूप से अंतर प्रतीत होता है । निर्गुण पंथ के प्रति प्रारंभ में उनकी सहिष्णुता उदासीनता में परिणत होती हुई भ्रमरगीत प्रसंग में पूर्ण विरोध के रूप में फूट निकली हैं । प्रेमी भक्त को प्राप्त कर लेने के पश्चात् और किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता उनकी गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं, “ हमारे मन में कोई स्थान अवशिष्ट नहीं है । हमारा हृदय तो कृष्ण के प्रेम से लबालब भरा है । ” “ मन दस बीस तो होते ही नहीं । ” प्रिय के असाधारण गुणों पर ही रीझकर प्रेम होता हो ऐसी बात नहीं है । उससे भी अधिक गुणवान वस्तु क्यों न हो पर वह प्रेमी के हृदय को नहीं लुभा सकती । वह प्रेम की अनन्यता है जो सूर की गोपियों में देखी जा सकती है जिसे प्रेम भक्ति का नाम दिया गया है -

उद्धव मन माने की बात ।

दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल विषकारा विष खात ॥

सूरदास जाको मन जासो ताको सोई सुहात ॥

अनंतः गोपियाँ समझ लेती हैं कि यह आदमी योग की भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा ही नहीं समझता तब वे योग की भाषा का ही आश्रय लेती हैं और उद्धव को बताती हैं कि हम तो पहले से ही योग साधना कर रही हैं, प्रेम ही हमारा तप भी है, योग भी है और भक्ति भी है, दुःख-सुख को हमने जीत लिया है । मानापमान से हम ऊपर हैं । प्रेम की कठिन अग्नि में हमने अपनी सब इच्छाएं होम कर दी हैं । कृष्ण के विरह में हम पंचाग्नि साधन कर रही हैं । अब तुम्ही बाताओं हमसे बड़ा योगी कोन होगा -

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ

मन, वच, क्रम, हरि सौँ धरि पतिव्रत, प्रेम जोग तब साध्यौ ॥

मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि अनहद शब्द प्रमाने .

बरसत रस रुचि बचन संग सुख पद आनंद समाने ॥

मंत्र दियो मन जात भजन लागि ज्ञान ध्यान हरि ही को ।

सूर कहौ गुरु कौन करै अलि कौन सुनै मति फीको ॥

आखिर ज्ञान मल्ल उद्धव ब्रज के अखाड़े में चारों कौन चित्त गिरे सो भी गोपियों के द्वारा । गोपियों की कठिन विरहग्नि से उद्धव का ब्रज हृदय भी पिघल गया । उद्धव पूर्ण रूप से पराजित होकर लौटे लेकिन उनकी यह पराजय भी उनकी बहुत बड़ी जीत थी क्योंकि इसके द्वारा उनके हाथ

एक ऐसा रसायन लगा जो कि ब्रह्मानंद सदृश था । मथुरा जाकर कृष्ण के सामने उद्धव ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें ज्ञान और योगमार्ग की पराजय की स्पष्ट घोषणा तथा सगुण और प्रेम भक्ति की विजय दुदंभी है -

माधव यह ब्रज को त्योहार ।

मेरो कह्यो पवन को भुस भयौ, गावत नंदन कुमार ॥

उद्धव ने ने ब्रज प्रयाण करते समय समझा था कि कृष्ण सचमुच ज्ञान मार्ग के समर्थन हैं किंतु उद्धव को हृदय परिवर्तन देख कृष्ण भी खुल पड़े और बोले हे उद्धवा मेरी भी बड़ी बुरी दशा है, ज्ञान ध्यान की ये बातें तो कोरा मजाक थी और फिर आप के ज्ञान गर्व की परीक्षा भी होनी थी । मैं स्वयं स्वीकार करता हूँ कि मानस की वास्तविक शांत के लिए ज्ञान मार्ग उपयुक्त नहीं है, उसके लिए उचित रास्ता तो भक्ति का ही है, अंत में सूर कृष्ण के मुक से निम्नांकित पद कहलाकर भक्ति मार्ग की विजय घोषणा दिगदिगंत में कर देते हैं -

ऊधौ मोहि ब्रज विसरत नाहीं ।

हंत सुता की सुंदर कगरी, उतरू कुंजन की छाहीं ॥

इस प्रकार अपने भ्रमरगीत में महाकवि सूर ने एक ओर तो सगुण भक्ति का उत्कर्ष निर्गुण भक्ति की तुलना में दिखाया है और दूसरी ओर हृदय की कोमलतम वृत्तियाँ भी इस भ्रमरगीत में चरमतम रूप में व्याप्त हैं जो 'भ्रमरगीत' प्रसंग को हिंदी की अमूल्य निधि बना देती है ।



पद्मावत का प्रबंध कौशल

प्रबंध कौशल:

रूप बंध की दृष्टि से पद्मावत एक प्रबंध काव्य है। कतिपय विद्वान इस प्रमाख्यानक प्रबंध काव्य मानते हैं तथा कुछ विद्वानों का मत है कि यह एक सफल महाकाव्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. जयदेव, डॉ. रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों का मानना है कि पद्मावत एक प्रेमाख्यान प्रबंध काव्य है। डॉ. राजकुमार वर्मा ने इसे मनसवी ढंग से लिखित प्रबंध काव्य स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने इसके संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट किया है कि, “पद्मावत हिंदी के सर्वोत्तम प्रबंध काव्यों में से है। ठेठ अवधी भाषा की गंभीरता की दृष्टि से यह काव्य निराला है।”

डॉ. जयदेव ने पद्मावत को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ प्रबंध काव्य स्वीकार करते हुए कहा है “वस्तुतः पद्मावत हिंदी का सबसे पहला उत्कृष्ट प्रबंध काव्य है।

इस समस्त विद्वानों में पद्मावत को प्रबंध काव्य स्वीकार किया है। निःसंदेह प्रबंधत्व महाकाव्य का मूलभूत लक्षण होता है, किंतु प्रबंध काव्य के अनेक भेदोपभेद सर्वसिद्ध हैं।

इन विद्वानों की मान्यताओं से यह स्पष्ट नहीं होता है कि, पद्मावत रूप विधा की दृष्टि से किस प्रकार का प्रबंध काव्य है।

पद्मावत: एक महाकाव्य:

हिंदी के अधिकांश विद्वानों ने पद्मावत को एक सफल महाकाव्य स्वीकार किया है। इन विद्वानों के तत्संबंधी विचार इस प्रकार हैं। डॉ. ए.जे. शिरेफ ने पद्मावती की भूमिका में पद्मावत को छंदोबद्ध काव्य की संज्ञा दी है। डॉ. कमल कुलश्रेष्ठ का मत है कि “इस प्रकार हिंदी के प्रेमाख्यानकों में पद्मावती और नलदमयंती पूर्ण रूप से महाकाव्यों के रुढ़िगत लक्षणों को कसौटी पर खरे उतरते हैं। पद्मावत में शृंगार व वीर रस का सुंदर परिपाक है।”

डॉ. गोविंदराम शर्मा के अनुसार “प्रेमाख्यानक काव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत एक ऐसी कृति है जिसे हम एक उच्चकोटि का महाकाव्य कह सकते हैं। वास्तव में फारसी की मसनवी शैली और अपभ्रंश के भवियत्त कहा” जैसे प्रेमाख्यान काव्यों तथा चरित्र काव्यों की शैली का सुंदर सामंजस्य इस महाकाव्य में दृष्टिगत होता है। (“हिंदी के आधुनिक काव्य”) डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है, कि “संसार के उत्कृष्ट महाकाव्यों में इसकी गिनती होने योग्य है।” डॉ. शिवसहाय पाछक का मत है कि, “पद्मावत” हिंदी के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में है। (मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य)

इन स्थापनों के आधार पर कहा जा सकता है कि पद्मावत का महाकाव्य है, किंतु हिंदी काव्य में अब तक महाकाव्य का जो विवचेन किया गया है वह अधिकांशतः परंपरागत भारतीय तथा पाश्चात्य लक्षण ग्रंथों के आधार पर ही हुआ है। सूफी काव्यों में इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ अन्य लक्षण भी उपलब्ध होते हैं। सारांश रूप में पद्मावत एक सफल महाकाव्य है।

पद्मावत का महाकाव्यत्व:

पद्मावत के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने लिखा है – “पद्मावत अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है, अर्थात् उसकी रचना एक विशिष्ट कवि द्वारा परंपरा प्राप्त साहित्यिक शैली में हुई है। उसकी शैली में विकसनशील महाकाव्यों में प्राप्त होने वाले अनेक तत्त्व अलौकिक और अति प्राकृतिक शक्तियों में विश्वास कखात्मकता आदि वर्तमान है। कन्याहरण, सिंहकल की भयंकर यात्रा, जहाज टूटना, अन्य साहसिक कार्य अलौकिक अति प्राकृत शक्तियों का मानव के साथ संबंध जादू की सिद्धि गुटिका शास्त्र और मानव भाषा- भाषी शुक आदि रोमांचक तत्त्वों का भी समावेश किया गया है।” इसमें रोमांचक तत्त्वों पर विचार करने के पश्चात् उन्होंने लिखा है, “पद्मावत को हमने रोमांटिक शैली का महाकाव्य माना है। इसमें रोमांचक तत्त्व बहुत हैं पर वे कवि के महत् उद्देश्य और प्रतीकात्मक शैली, काव्यात्मक वर्णन तथा उत्तरार्द्ध की कथा के ऐतिहासिक आधार के कारण नियंत्रित हैं। अतः यह कथ आख्यायिका न होकर रोमांचक शैली का महाकाव्य है।” (हिंदी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ. ४२८)

पं. रामचंद्र शुक्ल का कहना है कि, “प्रबंध क्षेत्र के भीतर दो सर्वश्रेष्ठ काव्य है “रामचरितमानस और पद्मावत” पद्मावत हिंदी साहित्य का एक जगमगाता रत्न है। (जायसी ग्रंथावली)

“सुसुंगठित और जीवंत कथावस्तु”

पद्मावत में चित्तोड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल की राजकुमारी के प्रेम कथा का वर्णन है। संपूर्ण काव्य की कथा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की कथा में अलाउद्दीन के आक्रमण जौहर दि का ऐतिहासिक तत्त्वों की छौक देकर उसे ऐतिहासिक सी कथा बना देने का सफल प्रयत्न है। प्रासंगिक तथा अधिकारिक कथाओं में परिअन्विति वर्तमान है। इसकी कथा पर्याप्त विस्तृत और व्यापक है। उसमें कल्पना तथा इतिहास का अदभूत समन्वय मिलता है। संपूर्ण कथा पद्मावती और रत्नसेन से सुसंबद्ध है। संपूर्ण कथा का विभाजन ५८ खंडों में किया गया है। खंड न विशेष बड़े हैं और न विशेष छोटे। कुछ खंड छोटे अवश्य हैं पर छोटे रूप में भी वे प्रभविष्णु एवं महत्त्वपूर्ण हैं। कथा में आदि से अंत तक कवि की महान प्रतिभा और कल्पना-विकास का सौंदर्य दर्शनीय है।

स्पष्ट है कि इसका विषय महान् और व्यापक है। इसमें प्रेम के पीर की कथात्मक सौंदर्य का चरम विकास हुआ है। अरस्तु के अनुसार जीवंत कथानक का गुण यह है कि, उसमें आदि मध्य और अंत अर्थात् उसका सर्वांग समानुपातिक विकास हुआ हो।

पद्मावत में नाटकीय संधियों और कार्यावस्थाओं का भी सुंदर प्रयोग हुआ है। उत्तरार्द्ध की कथा में प्रारंभ प्रत्याशा नियताप्ति और फलागम पाँचों कार्यावस्थाओं और मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, एवं निर्वद्धण इन पाँच संधियों की सम्यक् योजना हुई है। इस कथा में रत्नसेन को फल (पद्मावती) की प्राप्ति हो जाती है। उत्तरार्द्ध की कथा में मुख्य रूप से प्रारंभ प्रयत्न और प्रत्याशा की ही संयोजना हुई है। अंत में नियताप्ति और फलागम को प्रत्यक्षतः न दिखलाकर निगत और अवसान नामक पाश्चात्य ढंग की कार्यावस्थाएं दिखाई पड़ती है।

पद्मावत का कार्य है पद्मावती का सती होना। संबंध निर्वाह के ही अंतर्गत गति के विराम का भी विचार कर लेना चाहिए। पद्मावत की कथा की गति में बीच-बीच में अनावश्यक विराम बहुत से

हैं। मार्मिक परिस्थिति के विवरण एवं चित्रण के लिए घटनावली का विराम, अत्यंत आवश्यक विराम होता है। क्योंकि उसी से सारे प्रबंध में रसात्मकता आती है। जायसी का संबंध निर्वाह अच्छा होता है। सभी घटनाएं एवं प्रसंग एक दूसरे से कार्य कारण श्रृंखला में बंधे हैं। प्रत्येक घटना कथा प्रवाह में योग देती है। पद्मावत का कथानक पूर्णतः सुसंगठित कलात्मक और अन्वितियुक्त है।

२. नायकः

कथावस्तु के अंतर्गत महाकाव्य के तत्त्वों में नायक तत्त्व को प्रमुख स्थान दिया जाता है। वस्तुतः नायक के रूप में एक महत्तम चरित्र की सृष्टि के लिए ही कवि महाकाव्य की सर्जना में प्रवृत्त होता है।

पद्मावत का नायक रत्नसेन महाकाव्योचित नायक है। नायक में बुद्धि, उत्साह स्मृति, प्रज्ञा, शौर्य, औदार्य, धैर्य, स्थैर्य, माधुर्य, कला कुशलता, विनय, निरोगता, शुचिता, स्वाभिमान, प्रियवादिता जनानुरागिता, महावंशज, दृढता, तत्त्वशास्त्रज्ञता अग्राम्यता, श्रृंगारिकता और सौभाग्य आदि विशेषताएं होती हैं। इन सभी स्वाभिमानी क्षणाशील, गंभीर और शूर स्वभाव वाला आदर्श प्रेमी है। नायक रत्नसिंह का चरित्र एक आदर्श, प्रेमी त्यागी और बलिदानी महान है। अन्य पात्रों में नागमती, पति के लिए प्राण देती है। शुक गुरु प्रतीक और अप्राकृत शक्ति वाला पक्षी है। पद्मावती आदर्श भारतीय प्रेमिका के रूप में चित्रित है। उलाउद्दीन और राघव चेतन असत् पक्ष के प्रतिनिधि पात्र हैं। देव पाल भी उन्हीं की तरह हैं।

३. रसात्मकता और प्रभान्वितिः

भावोद्रेक एवं रसात्मकता महाकाव्य का एक प्रमुख तत्त्व है। पद्मावत में प्रमुख तत्त्व है - पद्मावत में मुख्य रूप से आद्यांत इति भाव की व्यंजना हुई है। इसीलिए इसमें श्रृंगार रस का प्राधान्य है। इसमें करुण, वीर, वीभत्स एवं शांत प्रभृत्त रसों की भी व्यंजना हुई है। इसमें आरंभ और अंत में शांत रस का चित्रण हुआ है। काव्य के अंत में करुण पत्वित शांत रस की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। जायसी ने अंतिम दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है कि, निर्वेद ही निखार पा सकता है।

ध्यान पूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि, जायसी ने कहीं कहीं कथा के बीच में अवसर आने पर अलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि, इसमें प्रस्तुत कथा ही गौड़ है। वस्तुतः रत्नसेन और पद्मावती की कहानी ही इसमें प्रधान है। इसमें श्रृंगार रस का सुंदर परिपाक हुआ है। संयोग और वियोग दोनों के सुंदर चित्रण पद्मावत में दर्शनीय हैं। वियोग श्रृंगार के वर्णन में जायसी एक महान कलाकार के रूप में पूर्ण सफल हैं। रत्नसेन नागमती, रत्नसेन पद्मावती क आलंबन बनाकर कवि ने संयोग श्रृंगार के कुछ चित्र उपस्थित किए हैं। षड्भूत वर्णन की योजना संयोग श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में है।

विप्रलंभ श्रृंगार में जायसी ने अपनी प्रतिभा का सुंदर प्रयोग किया है। नागमती का विरह वर्णन हिंदी विप्रलंभ श्रृंगार की एक अनमोल निधि है। इस विरह वर्णन में अनुभूति पद्मावत का बारहमास वियोग श्रृंगार के उद्दीपन विभाग के रूप में वर्तमान है। पद्मावत का अंत पाश्चात्य महाकाव्य के ढंग का है। उसमें पाश्चात्य नाटकों के ढंग की प्रभावान्विति मिलती है। यह पाठकों की चिंता को अभिभूत कर उन्हें असाधारण भावलोक में पहुँचा देती है।

४. वस्तु - वर्णन:

युग जीवन का एक संपूर्ण एवं जीवंत चित्र उपस्थित करने के लिए महाकाव्यमें जीवन के अनेक प्रसंगों और प्रकृति के विविध रूपों का विशद, कलात्मक व प्रभविष्णु वर्णन होता है। यह वर्णन विविध रसाभिव्यक्ति एवं भावोंद्रेक में सहायक होकर आते हैं।

पद्मावत में वस्तु वर्णन के प्रसंगों में जायसी ने अपनी असाधारण वर्णन शक्ति का परिचय दिया है। सिंहल द्वीप जल-क्रीड़ा, सिंहल द्वीप भाषा, समुद्र, विवाह, युद्ध नख शिख आदि के माध्यम से जायसी ने पद्मावत में विविध वस्तुओं के वर्णन की योजना करते हुए अपने काव्य कौशल का परिचय दिया है। सिंहल द्वीप वर्णन के अंतर्गत अमराई, सरोवर, कुँए, नगर हाट दुर्ग आदि वर्णनों का समावेश है। सात समुद्रों का काल्पनिक वर्णन भी मनोरम है। भीषणता, दुस्तरता एवं ताड़-पहाड़ की तरह लहरों आदि के चित्रण बन पड़े हैं। रत्नसेन - पद्मावती के विवाह वर्णन के प्रसंग में हिंदुओं में प्रचलित विवाह पद्धति का सुंदर वर्णन किया गया है। युद्ध वर्णन अत्यंत जीवंत है। इस प्रकार पद्मावत में वस्तु-वर्णन का वैविध्य और विस्तार दिखलाई पड़ता है। नगर, दुर्ग, यात्रा, मंत्रणा, जलक्रीड़ा, दूत, युद्ध पुत्रोदय विवाह, विरह संयोग आदि वर्णनों के एक युग का समग्र रूप चित्रित हो गया है। इन वर्णनों में यद्यपि कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार लक्षित होता है फिर भी इसमें कथा की रसात्मकता और सौंदर्य की निष्पत्ति होती है।

५. महत्कार्य:

भारतीय लक्षण ग्रंथों के अनुसार महाकाव्य का कार्य महत् होना चाहिए। पं. रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि, पद्मावत में कार्य है - 'पद्मावती का सती होना'। रामकृष्ण शितिमुख का कथन है कि पद्मावती की प्राप्ति की कार्य है। डॉ. शंभूनाथ सिंह का कथन है कि, पृथ्वीराज रासों, पद्मावत या आल्हा खंड में महत् कार्य दूँढना ही बेकार है। उनका कथन है कि, पद्मावत में पाश्चात्य देशों की तरह कार्यक्षय या नायक का विनाश दिखाया गया है।

यह स्पष्ट है कि जायसी का लक्ष्य है प्रेम पंथ का निरूपण। दृश्य काव्यों की ही भाँति प्रबंध काव्य के विन्यास में भी कार्य महत्त्वपूर्ण होता है। अरस्तू ने इसे युनिटि ऑफ एक्शन की संज्ञा दी है। शुक्ल जी का कथन उचित ही है कि पद्मावत का कार्य है पद्मावती का सती होना' क्योंकि इसके समस्त कार्य एवं घटनाएं इसमें सहायक हैं। पद्मावती की समस्त घटनाएं कार्य से संबद्ध हैं।

प्राचीन विद्वानों की यह मान्यता थी कि कार्य महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। जैसे 'रामचरितमानस' में रावण का वध और पद्मावत के पद्मावती का सती होना। आधुनिक काव्य-मंज इस धारणा को नहीं मानते। आर्नल्ड ने प्राचीन आदर्श का समर्थन किया है। जो भी हो जायसी का यही आदर्श है। उन्होंने अपने कार्य के लिए महत्कार्य चुना है।

६. उदात्त भाषा शैली:

काव्य में भाषा शैली की गरिमा आवश्यक है। महान विषय के प्रतिपादन और उदात्तभावों की उत्कृष्ट व्यंजना के लिए महाकाव्य की भाषा और शिल्प विधान में भी गरिमा आवश्यक है। विद्वानों का कथन है कि पद्मावत में महाकाव्यों (संस्कृत के) चरित काव्यों (अपभ्रंश के) और मनसवी काव्यों का सुंदर समावेश हुआ है। अतः पद्मावत की शैली में इन तीनों प्रकार के काव्यों की गरिमामयी सैली के दर्शन होते हैं। डॉ. माता प्रसाद गुप्त का कथन है कि पद्मावत में खंडों या सर्गों

का विभाजन नहीं है। कथा। अद्यात धारा- प्रवाह में लिखी गई है। इसी कारण यदि कोई कहे कि, पद्मावत सर्गबद्ध रचना नहीं है, तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि पद्मावत की अनेक प्राचीन प्रतियों में कथा को खंडों में विभाजित किया गया है। पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी है। इसके बीच बीच में पुराने अपभ्रंश के प्रयोग भी मिलते हैं। मुहावरे, सूक्तियाँ, हावतें उसके सौंदर्य वर्धन के लिए अत्यंत स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुई हैं। जायसी की भाषा भावाभिव्यंजना में सर्वत्र पूर्णतः समर्थ स्वाभाविक और सरस है।

पद्मावत में सर्वत्र व्याकरण सम्मत ठेठ अवधी का निराला माधुर्य प्राप्त होता है। इसमें आद्यांत दोहा चौपाई की पद्धति अपनायी गई है। पद्मावत में कहने की शैली अत्यंत अकृत्रिम, प्रवाह पूर्ण सरल और प्रभविष्णु है। अतः सरल किंतु गंभीर सहज किंतु, उदात्त माधुर्यपूर्ण किंतु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत एक सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

७. महान उद्देश्यः

महाकाव्य के निर्माण के मूल में महान उद्देश्य का होना आवश्यक है। चतुर्वर्ग, (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से किसी एक की प्राप्ति को भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य का उद्देश्य स्वीकार किया है। आत्म परिष्कार और मानव जीवन का उत्थान भी महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य माना गया है। सत् की असत् पर, न्याय की अन्याय पर, पुष्प की पाप पर विजय का चित्रण करता हुआ 'महाकाव्यकार' 'शिवम्' को ही साध्य मानता है। डॉ. शंभूनाथ सिंह का विचार है कि पद्मावत के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका उद्देश्य महान है। कवि की महती काव्य- प्रतिभा से पुष्ट होकर इस काव्य को हिंदी के अन्य सभी काव्यों से भिन्न एक निराले और उच्च पद पर बिठा देता है। काम, मोक्ष की प्राप्ति उसका उद्देश्य है। यह आवश्यक है कि पद्मावत का कवि लौकिक प्रेम कथा के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अनुभूति का भी आभास देता चलता है। अतः मोक्ष प्राप्ति ही पद्मावती का प्रधान फल है। परंतु प्रत्यक्ष रूप से 'जायसी' ने काम का ही प्रतिपादन किया है।

व्यावहारिक एवं कलात्मक दृष्टि से भी देखने पर पद्मावत का उद्देश्य महान दिखाई देता है। जायसी ने हिंदू और मुसलमानों के बीच की दूरी को स्नेहामृत से भरकर एकत्व की प्रतिष्ठा की है। इसलिए जायसी के आध्यात्मवाद के अंतराल में उदार और प्रेम प्रवण मानवतावाद की सरस्वती प्रवाहित हो रही है।

महती प्रतिभा, मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि एवं तज्जन्य गांभीर्य महती प्रतिभा:

संपन्न कवि जब किसी महती प्रेरणा से उद्देलित और अभिभूत होता है, तो वह महाकाव्य की सर्जना में प्रवृत्त होता है। महाकवि मार्मिक स्थलों का सुंदर विधान करता चला है। वह जीवन के मर्म स्पर्शीय प्रसंगों का पारखी होता है। ये मर्मस्पर्शी चित्रण मानव हृदय की रागात्मिका वृत्ति को जागृत कर देने हैं, पद्मावत में ऐसे स्थलों का पूरा समावेश है, जो मानव के रागात्मिका वृत्ति को उद्देलित करते हैं, जैसे मायके में कुमारियों की स्वच्छंद क्रीडा, रत्नसेन के प्रस्थान द्वारा सतीत्व गौरव की अपूर्व व्यंजना चितौड़ की दशा आदि।

सचमुच जायसी की प्रतिभा महनीय थी। जायसी की काव्य प्रतिभा का दर्शन सबसे अधिक पद्मावत के रूप सौंदर्य और विरह की मनोदशाओं के वर्णन में है। पद्मावत में प्रेम, उत्साह, वैराग्य, शोक, करुणा, भक्तिमय आदि स्थायी भावों की गंभीर अभिव्यंजना हुई है। सूफी विद्वान और संत पद्मावत का आदर पुरण की भाँति करते रहे हैं। इस ग्रंथ के अनेक संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं।

इसकी अनेक टीकाएं भी लिखी गई हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि व्यापक प्रभाव व लोकप्रियता की दृष्टि से देखने से रामचरितमानस के बाद पद्मावत का ही नाम आता है।

निष्कर्षतः पद्मावत के विषय में हम यह कह सकते हैं कि पद्मावत में महाकाव्य के कतिपय परंपरागत लक्षण भले ना मिले फिर भी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पद्मावत हिंदी के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में हैं।

पद्मावत : ऐतिहासिकता एवं कल्पना :

जायसी के पद्मावत की कथा समय के साथ-साथ अत्यंत लोकप्रिय हो गई है। अल्लाउद्दीन दिल्ली, रत्नसेन, चित्तौड़, प्रभुति नामों से संबद्ध होने के कारण धीरे धीरे यह कथा मुखर होती गई और इसे ही ऐतिहासिक सत्य किंवा इतिहास मानकर लिखा गया है। टाड़ फिरिस्ता, आईने अकबरी आदि की पद्मावती विषयक कहानी का मूल आधार पद्मावतही है। इस कथा को ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए हैं। परिणामतः अनेक निर्मूल और भ्रांत धारणाएं प्रचलित हो गई हैं। वस्तुतः पद्मावत आधुनिक काल के उपन्यासों की तरह एक कविता बद्ध कथा है। जिसमें कतिपय ऐतिहासिक नामों के अतिरिक्त महाकवि जायसी की कल्पना और भावना का विलास और सौंदर्य दर्शनीय है।

वर्तमान युग के कुछ प्रसिद्ध इतिहासकारों ने बड़े ही विचित्र तर्कों से पद्मावत की कथा को ऐतिहासिक सिद्ध करने के प्रयत्न किए हैं। पं. रामचंद्र शुक्ल ने टाड़ के विवरण को देखने के पश्चात् लिखा है कि, “टाड़ ने जो वृत्त किया है राजपुताने में रक्षित चारणों के इतिहास के आधार पर है। दो चार व्यौरों को छोड़कर ठीक यही वृत्त आईने अकबरी में भी दिया हुआ है।” इन्हीं दोनों ऐतिहासिक वृत्तों के साथ जायसी द्वारा वर्णित कथा का मिलान करके शुक्ल जी ने पद्मावत के उत्तरार्द्ध वाली कथा को ऐतिहासिक प्रमाणित की है।

जायसी की कहानी भारतीय लोकजीवन की एक चिरपरिचित कहानी है। जायसी का कथन है कि जैसी आदि से अंत तक कहानी रही है, तदनु रूप उन्होंने उसको भाषा चौपाई में निबद्ध करके उपस्थित किया है।

“आदि अंत जस भाषा अहै । लिखि भाषा चौपाई कहै”।।

जहायसी के समक्ष दोनों कहानियों के रूप वर्तमान थे। उन्होंने इन दोनों कथाओं के ताने बाने से पद्मावत की कथा का संघटन किया है। उन्होंने लोकजीवन में प्रचलित पद्मावती की कथा, साहित्य में समादृत पद्मावत की कथा, अलाउद्दीन के आक्रमण की कथा और राजपूतानियों का जौहर की कथाओं को एक सूत्र में संगुणित करके अद्यावत जैसा एक अद्भूत काव्य सौंदर्य संपन्न प्रबंध काव्य प्रस्तुत किया है। जायसरकी ने अपनी काहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उत्तरार्द्ध की कथा में अलाउद्दीन, रत्नसेन, दिल्ली, चित्तौड़, अलाउद्दीन, आक्रमण, जौहर आदि कुछ ऐतिहासिक आधार हैं पर जायसी ने उसे जो रूप प्रदान किया है वह सर्वत्र कवि कल्पना प्रधान है। कथा वास्तविक सी लगे अतः इसमें ऐतिहासिकता की छौक दी गई है। वस्तुतः इस कथा का निर्माण इतिहास के आधार पर नहीं हुआ है।

वस्तुतः पद्मावत साहित्यिक कृति है ऐतिहासिक नहीं । अतः पद्मावत का सौंदर्य साहित्य का है , इतिहास का नहीं । इसके विषय में कहा जा सकता है कि, इसमें सर्वत्र कविकल्पना का काव्य सौंदर्य दर्शनीय है पद्मावत इसका ज्वलंत उदाहरण है कि जिस प्रकार कोई साहित्यिक कृति इतिहास का निर्माण कर देती है और यही है पद्मावतकार की महान सफलता और उसका उत्तम प्रबंध कौशल्य ।



जायसी का बारहमासा

डॉ ओमप्रकाश त्रिपाठी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, माता प्रसाद गुप्त और वासुदेव सरण अग्रवाल जायसी को सूफी कवि, दार्शनिक और प्रेमाख्यान का कवि मानते हैं। ठीक इसके विपरीत विजयदेव नारायण साही का मत है – “जायसी न कोई संत हैं, न सिद्ध है, न दार्शनिक। उन्होंने न कोई पंथ चलाया न चेला बनाया। वे कवि हैं और सिर्फ कवि। जिसने उनका मुँह देखा उसे हँसी आ गई, लेकिन जब काव्य सुना तो आँसू आ गए।’ साही की इन्ही पंक्तियों को केंद्र में रखकर मैं अपनी बात यहाँ रखना चाहूँगा। कहते हैं, शेरशाह जायसी का रूप देखकर ठठाकर हँसा था। इसके उत्तर में जायसी ने सिर्फ इतना कहा था –

मोहि पर हँसत कि कोहरै ।

इतना तीखा जवाब वही दे सकता है जो शरीर से भले क्षतिग्रस्त हो, लेकिन गुणों से भरपूर हो। इसी हँसी की प्रतिक्रिया में वे पद्मावती की ऐसी मूर्ति गढ़ते हैं कि जो देखता है, देखता रह जाता है। फिर इस मूर्ति को जलाकर राख कर देता हैं। अलाउद्दीन को चित्तोड़ तो मिल जाता है लेकिन जिसे वह चाहता था, वह नहीं मलता। कवि लिखता है –

“लिन्ह उठाइ छार एक मुठी
दिन्ह उडाइ पृथीवी झूठी ॥
मानुष प्रेम होय बैकुण्ठी
नाही त कहा छार एक मूठी ॥

आशय यह कि प्रेम ही जीवन है। वह सौंदर्य में है, मिलन में है, वियोग में है और यहाँ तक कि मृत्यु में भी हैं। जायसी इसी में से घुसकर बाहर निकलते हैं और बाहर से फिर इसी में घुसते हैं। रत्नसेन चित्तोड़ से सिंघलद्वीप जाता है और सिंगलद्वीप से चित्तोड़ वापस आता है।

अब बात आँसू की। जायसी अपने पद्यावत में विरह वर्णन के लिए ही जाने जाते हैं। वह भी नागमती के। नागमती का विरह वर्णन दो खंडों में विभक्त है नागमती वियोग खंड और नागमती संदेश खंड। नागमती वियोग खंड में ‘बारहमासा’ का सहारा लिया गया है। संदेश खंड में नागमती पशु पक्षियों से अपना संदेश भेजती है। नागमती प्रवत्सय पतिका नायिका है। उसका वियोग इसी स्थिति से शुरू होता है –

“की अब लावहुँ अपने साधा ।
की अब मारि चलहुँ एहि हाथा ॥”

रत्नसेन उसकी बात नहीं सुनता। नागमती बेचैन होकर कह उठती है –

‘सुवा काल होइ लेइगा पीउ ।’

और वह प्रवत्सय पतिका से प्रोषित पतिका नायिका बन जाती है। अब बारहमासा शुरू होता

है । यह बारहमा आषाढ़ मास से प्रारंभ होता है । आषाढ़ बारिश का पहला महीना है । बारिश की मार शुरू होते ही नागमती को मदन सताने लगता है । उसकी इस दशा पर कवि लिखता है -

‘चढ़ा अषाढ़ गगन घन गाजा ।
साजा बिरह दुन्द दल बाजा ॥’
और नागमती अत्यंत कातर स्वर से पुकार उठती हैं -
‘ओनई घटा आइ चहु फेरी ।
कंत उबारु मदन हों घेरी ॥’

वर्षाकाल में उसकी सखियाँ उद्यानों में झूला डालकर फुहारों का आनंद लूटती है और नागमती दून उदासी से अपने प्रिय को खोजने का प्रयास करती है । नागमती सखियों से अपनी तुलना करते हुए कहती है -

‘जेहि घर कंता से सुखी तिंह गारो और वर्ग ।
कंत पियारो बाहिरै, हम भूला सुख सर्व ॥

आषाढ़ बीतता है और श्रावण चढ़ जाता है । श्रावण मास उसे और भी संतप्त कर देता है । नागमती देखती है कि सारी वनस्पतियाँ हरी भरी है और वह सूख रही है । उसे आश्चर्य होता है कि पुनर्वसु लग गया और प्रिय ने उसे नहीं देखा । प्रिय तो चतुर हैं । उसका संकेत उन्हें समझना चाहिए था -

‘सावन बरस मेह अति पानी ।
भरनि परी हौं बिरह झुरानी ॥
लाग पुनर्वसु पीउ न देखा ।
भइ बाउरि कहँ कंत सरेखा ॥

कहते हैं सावन से भादों दुब्बर । भादों की रात उसका जीना दूभर कर देती है । मघा नक्षत्र के झकोरों की बारिश की तरह ही उसके दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगती है । वह करे क्या ? वह तो यौवन के अथाह जल में हिल्कोरे खाने लगती है ।

‘भा भादो दूभर अति भारी ।
कैसे भरों रैन अधिकारी ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरि ।
मोर दुइ नयन चुवै जस ओरी ॥’

अब आता है क्वार । क्वार महीने में तालाबों का पानी घटते ही नागमती का शरीर भी क्षीण हो जाता है । वन में काँस फूलने लगते हैं किंतु विदेश में भूले हुए नागमती के कंत नहीं पाते । वह प्रियतम को दीन भाव से पुकारती है ।

‘लाग कुवार नीर जरा घटा अजहुँ आउ कंत न लटा ॥
बिरह हस्ति तन सालै, घाय करै चित चूर ।

बेगि आइ पिउ बाजहुँ, दाजहुँ होइ सदूर ॥”

क्वार के बाद कार्तिक की शरद ज्योत्स्ना ने संसार को शीतल कर दिया है । परंतु तीज-त्योहार जब आते हैं तब वियुक्त प्रियतम की स्मृति विरही जन को बेचैन कर देती है । दीपावली का त्योहार पूरे संसार में मनाया जा रहा है, किन्तु नागमती का प्रियतम नहीं है । वह प्रियतम को पुकारती है । उसकी पुकार में विरह वेदना सहस्र धार होकर प्रवाहित हो उठती है ।

‘अबहुँ निठुर आउ एहि वारा ।
परब देवारी होइ संसारा ।
सखि झूमक गावै अंग मोरी ।
हौं झुरावैं बिछुरी मोरि जोरी ॥”

कार्तिक तो बीत जाता है, किंतु अगहन ? नागमती का अगहन नहीं बीतता । कारण कि अगहन में रात बड़ी हो जाती है । उसके यौवन का यह विरह उसके जीवन को जलाकर धूल में मिला देता है । वह उन्माद की स्थिति में पहुँचकर ‘भौरा’ और ‘काग’ को संबोधित करती है । नागमती का यह संबोधन बड़ा ही कोमल, मार्मिक एवं प्रभावोत्पादन है जो पाठक को अभीभूत कर देता है । यह आशिक और माशूका का प्रलाप नहीं है, समदुख भोगियों में परस्पर सहानुभूति का भाव है ।

‘अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी ।
दूभर रैनि जाइ किमि गाढ़ी ॥
घर-घर चीर रचे सब काहू ।
मोर रूप रंग लेइ गा नाहू ॥

और फिर –

‘पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा हे भौरा हे काग ।
सौं धनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग ॥”

नागमती की यह वह दशा है जिसमें वह अपना रातीपन भूल गई है । एक सामान्य स्त्री ही तरह पूस महीने की ठंडक वह बरदाश्त नहीं कर पाती । उसकी दशा देखिए –

‘पूस जाड़ थर-थर तन काँपा ।
सुरज जाइ लंका दिशि चापा ॥
कंत कहाँ लागौं ओहि हियरे ॥
पंथ अपार सूझ नहिं नियरे ॥

माघ जाड़े का सबसे ठंडा और भयंकर महीना होता है । इस महीने में कभी-कभी बारिश भी होने लगती है । एक साथ इन दोनों की मार नागमती नहीं सह पाती । वह पिय को पुकारती है कि तुम्ही मुझे इस जाड़े से उबार सकते हो –

‘लागेउ माघ परै अब पाला ।
बिरहा काल भएउ जड़ काला ।

आई सुर होइ तपुरे नाहा ।
तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा ॥”

माघ के बाद फाल्गुन । फाल्गुन की तेज हवाएँ नागमती को झकझोर कर रख देती हैं । उसका शरीर ‘पियर पात’ हो जाता है । वनस्पतियों का हृदय तो उल्लास से आपूरित है, परंतु नागमती उसका संसार तो दून उदासी से भरा हुआ है -

‘तन जस पियर पात भा मोरा ।
तेहि पर बिरह देह झकझोरा ॥
करहि बनस्पति हियहुलासू ।
मो कहँ भा जग दून उदासू ॥
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी ॥
मोहि तन लाइ दीन्ह जर होरी ॥

इसके बाद

‘यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव ॥”

नागमती के उन्माद की अवस्था का यह चित्र बार-बार वहीं खींच सकता है, जिसे नारी हृदय प्राप्त हो । इसमें कोई संदेह नहीं कि जायसी को नारी हृदय प्राप्त था । वे बड़े ही संवेदनशील और सुकुमार हृदय के कवि थे । फाल्गुन बीतते ही चैत्र का आगमन होता है । चैत्र में वसंत की धमार शुरू हो जाती है । विरह विदग्धा नागमती को सारा संसार उजाड़ लगता है । वह प्रियतम से विरह-विह्वल होकर कहती है कि नारंग वृक्षों की शाखाओं में स्तन रूपी फल उठ आए हैं । विरह रूपी झुग्गा उस यौवन फल को खाना चाहता है । तुम गिरहबाज कबूतर की तरह आकर एकदम टूट पड़ो-

चैत बसंता होइ धमारी ।
महिं लेखे संसार उजारी ।
बौरै आम फरै अब लागे ।
अब हूँ आउ धर कंत सभागे ॥
फिर जोबन भग नारंग साखा ।
सुआ बिरह अब जाइ न राखा ॥

बैषाख का तो अलग ही ढंग है इस महीने में विरहिणी एक और सूखे तालों की दरारों को देखती है तो दूसरी ओर अपने विदीर्ण हृदय को । दो उपस्थित वस्तुओं में ऐसा साम्य कम देखने को मिलता है । इस दशा में नागमती कहती है कि हे प्रियतम तुम दवँगरा बनकर दरारों को मिलाकर एक कर दो -

‘सरवर हिया घटत निति जाई ।
टूक टूक होई के बिहराई ॥

बिहरत हिया करहुँ पिउ टेका ॥
दीठि दवँगरा मेखहु एका ॥”

परंतु नागमती का प्रियतम दवँगरा बनकर नहीं आता और जेठ आ जाता है । लूवें चलने लगती हैं, बवंडर उठने लगता है और अंगारों की वर्षा होने लगती है । कवि लिखता है कि नागमती जिस आग को झेल रही है उसे पर्वत, समुद्र, सूर्य, चंद्रमा आदि भी नहीं झेल सकते । यह सती के ही वश का है ।

‘जेठ जरै जग चलै लुवारा ।
उठहि बवंडर परहि अंगारा ॥
गिरि समुद्र ससि मेघ रबि,
सहि न सकहिं वह आगि ।
मुहमद सती सराहिए,
जरै जो अस पिउ लागि ॥”

जायसी के बारहमासा में उनके ग्रामीण जीवन का तिना गहरा प्रभाव है कि वे यह भूल जाते हैं कि नागमती रानी है । साधारण गृहिणी को बारिश से पहले तपते जेठ-आषाढ़ में छप्पर छाने की जरूरत पड़ती है । नागमती को छप्पर छाने की क्या जरूरत ? लेकिन नागमती इसके लिए चिंतित है –

‘तपै लागि अब जेठ असाढ़ी
मोहिं पिउ बिनु छाडनि भइ गाढ़ी ॥
बरस दिवस धनि रोइ कै,
हारि परी चित झंखि ।
मानुस धरि धरि बूझि के,
बूझै निसरी पंखि ॥’

अंत में नागमती हारकर घर से बाहर निकल जाती है और अपने प्रियतम के बारे में पुछने के लिए पक्षियों की शरण लेती है । आदमी उसकी मदद नहीं करता । जायसी के विरह वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें हृदय की व्यंजना की सामान्य रूप से अभिव्यंजित हुई है । विरह वर्णन में यदि वस्तु व्यंजन ही प्रधान हो उठे तो वह हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता । कवि नागमती के विरह वर्णन में प्रकृति और मनुष्य दोनों को जोड़ देता है –

‘जेहि पंखी ने नियर होय,
करै बिरह कै बात ।
सोइ पंखी जाइ जरि,
तरिवर होइ निपात ॥”

और –

‘कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई ।
रकत आँसु धुधुची बन बोई ॥’

यही से संदेश खंड शुरू होता है । पुरुरवा और श्रीराम को तो वन पशुओं और पक्षियों ने कोई उत्तर न दिया था, किंतु नागमती को विरह एवं दुख का प्रभाव वन्य जीवों पर पड़ता है । फलतः एक पक्षी उसकी विरही स्थिति से द्रवित होकर पूछ बैठता है –

फिर फिर रोव कोई नहि डाला ।
आधी रात बिहंगम बोला ॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी ।
केहि दुख रैनि न लावसि आँखी ।

इस पर नागमती जवाब देती है कि विछोही भला कैसे सो कहता है ? फिर सीधे पद्मावती अपना संदेश कहने के लिए कहती है । उसके संदेश में जो पवित्रता और निच्छल गारिमा है, वह विरह के चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर व्यक्तिके मान, गर्व, सुखोपभोग आदि की संपूर्ण लालसाओं को तिरोहित कर देता है ।

‘पद्मावति सौं कहेहु बिहंगम ।
कंत लोभाइ रही करि संगम ॥
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ ।
आपुहि पाइ जानु पर जीऊ ॥
मोहि भोग सौं काज न बारी ।
सोंब दीठि के चाहनहारी ॥
आनि मिलाव एक बेर ।
तोर पाँय मोर माथ ।’

नागमती के इस संदेश पर टिप्पणी करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं “वह पुत्र दशा धन्य है, जिसमें सब अपने है । एक रानी जो कभी बड़ेबड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर ध्यान नहीं देती थी, वह पशु पक्षियों के सामने अपना हृदय खोलकर रख देती है ।

अंत में कहना जरूरी है कि जायसी को नक्षत्रों का अच्छा ज्ञान था । वे जानते थे कि कौन सा नक्षत्र किस महीने में पड़ता है और उसका प्रकृति से क्या संबंध है । अपने इसी ज्ञान को लेकर वे पद्मावत के विरह वर्णन में उतरते हैं और ऐसा डूबते हैं कि उसमें काही भी कामुकता नहीं आने देते । वेदना का जितना निरीह, निरावरण, मार्मिक एवं गंभीर चित्रण वे यह प्रस्तुत करते हैं । अन्यत्र दुर्लभ है । पद्मावत के विप्रलं श्रृंगार का यह प्रसंग ही जायसी की कीर्ति का आधार है । हालाँकि इसमें कहीं कहीं अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है । फिर भी ऐसा लगता है कि जायसी के हृदय में जो वियोगिनी निवास करती थी, नागमती के रूप में साकार हो उठी है निष्कर्षतः यह ‘बारहमासा’ एक तरह से जायसी का ही रुदन गीत है । इस रुदन गीत में न केवल अवधी क्षेत्र बल्कि पूरा भोजपुरी क्षेत्र भी समाहित हो गया है । ऊपर से देखने पर लगता है कि इसकी भाषा देहाती अवधी हैं, किंतु यह अत्यंत प्रौढ एवं अर्ध गांभीर्य से परिपूर्ण है । इसमें इतना माधुर्य है कि जायसी के जीवन काल में ही उनके प्रशंसक इसकी चौपाडियाँ गाते - फिर थे और आज भी लोग इसे नमूने के तौर पर पेश करते हैं ।



पद्मावत में सांस्कृतिक समन्वय

जायसी मानव जीवन के चितरे और मानव समाज के सूक्ष्म तत्त्वदर्शी रचनाकार थे । उनके लिए समस्त मानव जाति प्रेम और श्रद्धा का पात्र थी । कवि कर्म के निर्वाह, में धर्म और समाज की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर उन्होंने जिस महानता का परिचय दिया उसके लिए वे सदा वंदनीय हैं । उनका साहित्य अपने काल की समसामयिक परिस्थितियों को आत्मसात् करता हुआ उस युग की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना के समन्वय की विराट चेष्टा से युक्त है । उनकी कृती धर्म, संप्रदाय आदि की संकीर्णताओं से परे रह कर समग्रमानवता की हितचिंता में रची गई है । जो उनके संत हृदय की निष्कलुष भावना का परिचय करा देती है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं – “जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिसका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है । हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्ही का नाम लेना पड़ेगा । इन्होंने मुसलमान हो कर हिंदूओं की कहानियां, हिंदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया । भक्तिकालीन सांस्कृतिक चेतना में प्रेम के पुडारी इन सूफी कवितयों का योगदार अभूतपूर्व है । सभी धर्मों और संस्कृतियों का समन्वय कर एकता की भावना का संचार करने वाले वे सच्चे अर्थों में साधक थे । सूफियों की रचनाओं का मुख्य लक्ष्य प्रेम, भाईचारा और सौहार्द स्थापन रहा है । वे इस्लाम के अनुयायियों और गैर इस्लाममतावलंबियों के मध्ये सेतू थी । प्रसिद्ध सूफी संत मौलाना रुमा का कहना था-

तू बराए वस्ल करदन आमदी

ने बराए फस्द करदन आमदी

अर्थात् इस संसार में मेल मिलाप के लिए तुम्हारा आगमन हुआ है, फसाद फैलाने और अलग अलग करने हेतु नहीं उनके वचनों में सर्वत्र एकता, समता और भ्रातृभाव लक्षित होता है । आज धर्म की उदात्त और मंगलकारी भावना को हम भुला चुके हैं तथा विवेकहीन धर्मान्धता का विध्वंसकारी रूप हमारे सामने है ।

जायसी सांस्कृतिक समन्वय के अनन्यतम पुरस्कर्ता थे । हिंदू परिवारों के समग्र आचार-विचार क्रिया व्यापारों से वे पूर्णतया परिचित और उनके प्रति आस्थावना थे इसी तरह इस्लाम धर्म और पैगंबर भी उनके लिए आस्था के बिंदु थे । उनका हृदय सौंदर्य रस से सराबोर था । सभी धर्मों के प्रभाव पक्षों को स्वीकार कर जायसी ने सूफी साधना में उनका समिश्रण किया था । यह तथ्य निर्विवाद स्वीकार्य है कि दुनिया की प्रत्येक संस्कृति की तरह भारतीय संस्कृति ने भी बाह्य तत्त्व ग्रहण किया और रचा-रचाकर उसे अपना बना डाला । भारतीय संस्कृति में अनेक अंतःसलिलाएं मिली हैं और किंचित अपना स्वाभाविक गुणधर्म भी बनाए रही हैं । हिंदू और इस्लाम का मिलन कुछ ऐसा ही रहा है तथा उनमें विश्वास और सहयोग कायम हुआ । हिंदू धर्म साधना के साथ जायसी का जीवन तथा अध्यात्मदर्शन इस प्रकार घुलमिल गया है कि उसके बीच विभाजक रेखा शींचना दुष्कर कार्य है । उन्होंने हिंदू तथा मुसलमानों की चिंतन धाराओं को एक अंकुर से निकले हुए दो पत्तों की तरह माना । दर्शन के धरातल पर इंसान इंसान के बीच एकता का प्रयास करते हुए जायसी ने दोनों

के सहअस्तित्व को स्वीकार करते हुए सत्य का उद्घाटन किया -

एक चाक सब पिंडा तढ़े भांति भांति के भांडा गढ़े
तिन्ह संतति उपराजा, भांतिन्ह भाति कुलीन,
हिन्दु तुरक दवै भए, अपने अपने दीन ।

हिन्दू और मुसलमानों की बीच की खाई की पाटने और एकता स्थापित करने का सरस एवं आकर्षक ढंग, जो जायसी के साहित्य में लक्षित होता है, वह अपने पूर्वर्ती प्रयासों से सर्वथा भिन्न है। कबीरदास इसी सत्य को 'जौं तू बाभनी जाया, आन मार्ग हवै क्यो, नहिं आया' या 'जौं तू मुसलमान हवै जाया, भीतर खतना क्यो न कराया' जैसी चुभती भाषा से प्रकट करते थे, उसे जायसी ने प्रेम माधुर्य भरी शब्दावली में कहा -

बिरिछ एक लागि दुई डारा, एकहि ते नाना परकारा ।
मातु के रकत पिता के बिन्दू, उपजे दुवै तुरक "औ" हिन्दु ।

असहमति, विरोध और सुधार की परंपरा भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक अंग रही है, जिसका प्रतिनिधित्व प्रारंभिकाल से वर्तमान तक अनेक विचारकों, संतों और रचनाकारों ने किया है और इन प्रयासों ने समय-समय पर अपने समाज को नई शक्ति प्रदान की है। इसी प्रेम मार्ग का निर्देश करके मानव हृदय पर परमात्मा की अलौकिक छवि अंकित करने का कार्य जायसी ने सर्वत्र किया है। समन्वय और सहयोग भारतीय संस्कृति की विरासत नहीं है। उदारमना, ग्रहणशील शक्ति ने अपने दार्शनिक चिन्तन और संप्रदायों को स्वीकार कर उन्हें लोकव्यापी बनने का अवसर प्रदान किया तथा उनकी सांस्कृतिक विविधताओं का सम्मान कर उन्हें अपने वैशिष्ट्य को यथावत् रखने का मौका दिया।

जायसी के साहित्य में ऐतिहासिक तत्त्व के साथ-साथ लोक प्रचलित कथा और वातावरण का अद्भुत समन्वय हुआ है कथा-विधान की दृष्टि से यदि पद्मावत को देखा जाय तो उसका पूर्वाद्भ लोक कथाओं अर्थात् कल्पनात्मक धरातल पर और उत्तराद्भ ऐतिहासिकता का सहारा लेकर रचा गया है। वे दोनों अलग विधान हैं और दोनों की अपनी अलग अलग कसौटियां हैं। क्योंकि एक ओर लोक है, तो दूसरी ओर शिष्ट अथवा अभिजात तत्त्व। लोककथा में अनेक अलौकिक घटनाएं घटित होती हैं जो तार्किक दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होती। पद्मावती का हीरामन इसी प्रकार का एक विधान है। उत्तराद्भ में अलौकिक घटनाएं और तत्त्व नहीं हैं। ललाउद्दीन वर्षों चित्तोड़ को सेना के साथ घेरे रहता है किन्तु रत्नसेन उसके विरुद्ध समुद्र प्रदत्त - अमृत पारस पत्थर, शार्दूल जैसी शक्तियों का प्रयोग करता नहीं दिखाई देता। इसलिए कि इतिहास में ऐसे जादुई प्रयास मान्य नहीं हो सकते। संधि के समय अल्लाउद्दीन को रत्नसेन ये वस्तुएँ भेंट स्वरूप प्रदान कर देता है। लोक संगठन और ऐतिहासिक वृत्त का ऐस अद्भुत समन्वय जायसी की प्रतिभा कौशल का फल है।

जायसी की कृतियों में चित्रित लोक और शिष्ट से यह पक्ष उभर कर सामने आता है कि लोक जीवन में कष्टों के वियावान जंगल हैं तो कृपा की अजस्रधारा भी फूटती है।

परन्तु ऐतिहासिक संदर्भों में यह बात संभव नहीं हो पाती। इसी कारण पद्मावत का पूर्वाद्भ सुखान्त है और उत्तराद्भ दुखान्त। विजय देवनारायण साही ने इसी कारण लिखा कि "पद्मावत" हिन्दी में अपने ढंग की अकेली "ट्रेजिक" कृति है। मानव जीवन की संपूर्णता और उसकी नियति

का प्रभावी अंकन यहां हुआ है। पद्मावत में लोक और इतिहास का समन्वय करते समय जायसी अपनी उदार दृष्टि का परिचय सर्वत्र देते हैं। मुसलमान होकर भी जहां पर हिन्दू घरों की कथा उठाई है, हिन्दू आस्था का ध्यान बराबर रखा है तथा दूसरी ओर मुस्लिम पात्रों के साथ कोई पक्षपात भी नहीं दिखाई पड़ता। रत्नसेन और अलाउद्दीन के चलने वाले संघर्ष में जायसी का काव्य कहीं भी जातीय कालिमा से कलुषित नहीं हुआ है। इस्लाम में जन्में कवि ने हिन्दू शौर्य का वर्णन करते हुए इस बात को सिद्ध किया है कि शौर्य और पराक्रम जाति धर्म से नहीं जुड़ते। जायसी ने दिल्लीपति के विरुद्ध जाकर लिखा। “हिन्दु तुरक दुवौ रन गाजै”- हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रति आत्मिय भाव रखते हुए भी चित्तौड़ के प्रति उनका अपनापन कुछ अधिक ही है। पद्मावत द्वारा रचनाकार यह बता देता है कि रत्नसेन और अलाउद्दीन की यह लड़ाई दो जातियों और धर्मों का संघर्ष नहीं है। वरन् दो आदर्शों और मूल्यों को लेकर चलने वाला संघर्ष है। “पद्मावत” में आने वाला यह चित्तौड़ एक ऐतिहासिक स्थान ही नहीं वरन् एक पवित्र तीर्थस्थल बनकर सामने आता है और मुक्त कंठ से जायसी उसकी महानता का वर्णन करते हैं। भारत की धरती शूरवीरों की धरती है और “जोहर व्रत” करने वाली सती नारियों की उज्ज्वल गाथा से भरी पड़ी है। हिन्दु लोक विश्वास में जोहर व्रत करने वाली नारी अपने पति के साथ स्वर्ग में स्थान प्राप्त करती है। इसी मान्यता की रक्षा करते हुए जायसी लिखते हैं।

जियत कंत तुम हम कंठलाई, मुए कंठ नहि छाड़हिं साई ।
 दुवौ सवति मिलि खाट बइठीं, सुरलोक पर तिन्ह दीठी ।
 लागी कंठ आगि दै होरी, छार भई जरि अंगन गोरी ।
 रातीं पिय के गहे गई, छार भई जरि अंगन गोरी ।
 रातीं पिय के गहे गई, सरंग गयो रतनार,
 जो रे उवा सो आथवा, रहा न कोई संसार ।

कवि ने पद्मिनी के जोहर व्रत का वर्णन कर, उसे सतीत्व की रक्षा कराकर पराजित हिन्दू जाति की रक्षा की। इसी प्रकार अलाउद्दीन द्वारा रत्नसेन पराजित नहीं होता वरन् देवपाल से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त होता है। जायसी मानवीय मूल्यों की रक्षा के प्रति सतत जागरूक थे। उनका मूल मन्त्र था – “मानसु प्रेम भयऊ बैकुठी, नाहित काह छार दुई मुठीं”- प्रेम साधना में मानवीं और दैवी प्रेम के अंतर को समाप्त करने का कार्य जायसी ने किया मुटठी भर धूल ही हर मनुष्य का स्थूल स्थायी भाव है। प्रेम के कारण इस मिट्टी के चित्त अंश का प्रकाश होता है। ऐतिहासिक संदर्भों में वर्णित ‘सिंहल-द्वीप’ भौगोलिक दृष्टि से विवाद का विषय रहा है और आचार्य शुक्ल ने तो कहा कि सिंहल द्वीप के लोग (तामिल और सिंहली) कैसे काले-कलूटे होते हैं। वहां पद्मिनी स्त्रियों का पाया जाना गोरखपंथी साधुओं की कल्पना है। सिंहल द्वीप चाहे जहाँ भी रहा हो, सिंहल द्वीप और चित्तौड़ में भले ही दूरी बहुत रही हो, या न रही हो किन्तु मिथकों में सुरक्षित जातीय स्मृतियां पुरातन संबंधों की ओर संकेत अवश्य करती हैं। ये संबंध ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही खरे न उतरें किन्तु भावनात्मक धरातल पर इस क्षेत्र को महान भारतीय परंपरा का एक अंग अवश्य सिद्ध कर देते हैं।

जायसी अवध निवासी थे। उत्तर भारत में विशेषतः अवध में “पद्मिनी रानी और हीरामन सुए” की कहानी अब तक उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है। (आ. शुल्क) जायसी की महानता का कारण यह नहीं है कि अवधी की लोक प्रचलित शैली में उन्होंने उत्कृष्ट प्रबंध काव्य लिखा वरन् उनकी महानता का कारण यह है कि उत्तर भारत के हिन्दू

समाज से जुड़ी लोक कथा और एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा का मिश्रण कर अपनी उदार संत चेतना का परिचय दिया। 'पद्मावत' लोकभाषा में है। लोक कथाएँ चूकि गाकर सुनाई जाती हैं, इसलिए इनमें लोक जीवन से संदर्भित जीवन - ज्ञान के विविध पक्षों का समावेश अनिवार्य हो जाता है और कथा विन्यास में निरन्तर उत्सुकता बनी रहती है। जायसी के काव्य में छोटे-छोटे ज्ञानकोश लोक जीवन की देन हैं। पूर्वाद्ध में लोक अभिप्रायों का प्रयोग उसे चटख रंग प्रदान करता है जैसे - "भोर होत बोलहिं चुहचूही" यह लोक बोली और लोक संस्कारों का एक अंग बन गया है। कवि के ऐसे प्रयोग उसकी लोकाभिरुचि को दर्शाते हैं। किन्तु उत्तराद्ध में इनका अभाव है। जायसी द्वारा लिखा गया "मसल-नामा" जिसको हम पाठकों के बीच लाने का श्रेय जायसी साहित्य के मर्मज्ञ डॉ. शिवसहाय पाठक (द्वैयोग से जो सि संगोष्ठी में पधारें हैं) को है, उत्तर प्रदेश की एक लोकधुन की अद्भुत रचना है। जहां जायसी लिखते हैं।

यह तन अलह मियां सो लाई, जिहि की खाई तिहिकी गाई
जिसका खाना, उसका गाना" मुहावरे का प्रयोग या इस पंक्ति में -
ज्ञान धरो मन चित सों गाढ़, छूटा बरध भुसौले ठाढ़।

यहां मुहावरे का प्रयोग इस बात की ओर संकेत कर रहे हैं कि हमारा मन विषय वासनाओं की ओर उसी प्रकार झुकता है, जैसे खुला हुआ बैल भुसौले में जाकर ही खड़ा होता है। लोक-संस्कारों, लोकोत्सवों का एक समित्र प्रयोग देखिए -

जौ नहि आज सजन घर आवैं, बिनगुन फाग देवारी गावैं।
दुख-सुख मंहँ जो पिउसग हसै, खोरा खाइ बनारस बसै।
जोजेहि राता सोई सुहात, भूखा बंगाली भातै भात।

इस लोक संस्कारों के समन्वयात्मक प्रयासों के साथ-साथ जायसी हिन्दुओं की आस्था में पूर्णरूपेण रंगे थे। अवध का प्रभाव तो उन पर व्यापक था। अवधी की राम कथा कहीं न कहीं उन्हें प्रभावित कर रही थी। इसी कारण रामायण के प्रायः सभी प्रसंग उनकी प्रसिद्ध कृति "पद्मावत" में आए हैं, जिससे रामकथा में उनकी प्रगाढ़ आस्था का पता चलता है। रत्नसेन के साथ पद्मिनी के सती होने की घटना का वर्णन करते हुए वे कहते हैं।

तब लागि सो अवसर होइ बीता, भए अलोप राम और सीता।

यहां "अलोप" शब्द का प्रयोग महापुरुषों के आविर्भाव और तिरोभाव की ओर संकेत करता है। जिससे हिन्दू जन मानस की प्रचलित धारणा का पता चलता है। इस्लाम अवतारवाद को नहीं मानता यह सर्व विदित सत्य है किन्तु जायसी की रचनाएं इस बात का बार-बार संकेत देती हैं कि वे इस धारणा के समर्थक थे। हिन्दुओं की दशावतार संबंधी मान्यता के बीच रहकर जायसी प्रकरान्तर से इस बात को स्वीकार करते हैं। इसी कारण ब्रह्मास्वरूपा पद्मिनी के अवतार का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

प्रथम सो जोति गगन निरमई, पुनि सौं पिता माथे मनि भई।
पुनि त्रह जोत मातु घट आई, तेहि ओदर आदर बहु पाई।
भए दसमास पूरि में घरी, पद्मावति कन्या अवतारी।

जस अवधान पूर होई तासु, दिन-दिन होय होई परगासु
भा निसि माँहि दिन के परगासु, सब उजियार भयहु कविलासू ।

अर्थात् आदि में वह ज्योति आकाश (शिवलोक) में निर्मित हुई थी । तत्पश्चात् वह पिता के मस्तक पर मणि (दीप्ति) बनकर अवतरित हुई । बाद में वह माता के घट में आई और उसके पेट में उसे आदर सम्मान प्राप्त हुआ । जैसे जैसे ज्योति की वह अमानत आकार ग्रहण कर रही थी वैसे वैसे मां के हृदय में उसका प्रकाश बढ़ता जा रहा था । ठीक उसी प्रकार जैसे झीने आंचल के भीतर दीप झलमलाता है वैसे ही माता का प्रकाशपूर्ण हृदय स्पष्ट हो रहा था । जायसी ने पद्मावत में चारों वेदों का सम्मानपूर्वक उल्लेख करते हुए लिखा है ।

चतुस्वेद मत सब ओहि पाहां, रिगु जजु, साम अरथवन माँहा ।

जायसी ने इस्लाम का प्रचार किया या नहीं परन्तु उदात्त मानवीय मूल्यों के प्रखर प्रहरी वे आवश्यक थे । वे बार बार घोषित करते रहे – “विधना के मारग हैं तेते, सरग नकत तन रोवाँ जेते ।” सभी धर्मों को परमात्मा तक पहुंचाने वाला मानने वाले कवि ने हर भाषा को अपने भावों को प्रदर्शित करने का सशक्त माध्यम भी स्वीकार किया ।

तुरकी,. अरबी, हिन्दुई, भाषा जैसी आहि ।
जेहिं मंह मारग प्रेमकर सबै सराहैं ताहि ।
जाहण पक्षी जगति में बैठे सब उमराउ ।
आपन-आपन भासा, लेइ देह करनाउ ॥

आज एक भोग और लिप्सावादी संस्कृति तेजी से विकसित हो रही है, जिसमें हमारा भारतीय चिन्तन निरन्तर क्षरित हो रहा है । सांस्कृतिक अस्मिता का ह्रास एक गंभीर संकट के रूप में उपजा है । सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की तपनशील स्थिति में मानवीय गुणों में आस्था रखने वाला जायसी का काव्य एक रोशनी प्रदान करता है । इसका प्रमाण हम अपने समाज में भी देखें कि आज भी श्रद्धा भाव से लाखों हिन्दू जायसी जैसे सूफी संतों साधकों की मजारों पर मन्त्रों और शीश झुकाते हैं । अतएव आज हमारे आचरणमें जायसी के चिन्तन को उतारने की आवश्यकता अधिक है ।





एम. ए.
अभ्यासपत्रिका क्र. ५
प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य

डॉ. राजन वेळूकर
कुलगुरु,
मुंबई विद्यापीठ, मुंबई.

डॉ. धनेश्वर हरिचंदन
प्राध्यापक-नि-संचालक,
दूर व मुक्त शिक्षण संस्था,
मुंबई विद्यापीठ, मुंबई.

प्रकल्प -अभ्यास समन्वयक :

आणि संपादक

दूर व मुक्त शिक्षण संस्था,
मुंबई विद्यापीठ, मुंबई.

अभ्यास लेखक :

जानेवारी २०१२, तृतीय वर्ष कला, अभ्यासपत्रिका क्र.५, प्राचीन एवं मध्यकालिन काव्य

प्रकाशक : प्राध्यापक-नि-संचालक
दूर व मुक्त अध्ययन संस्था,
मुंबई विद्यापीठ, मुंबई - ४०००९८.

अक्षरजुळणी : वरदा ऑफसेट आणि टाईपसेटर्स
अंधेरी (प.), मुंबई - ४०० ०५८.

मुद्रण :

९४
अनुक्रमणिका

इकाई क्रं.	पाठाचे नाव	पान नं.
१.	रामचरित्र मानस में तुलसी की काव्य कला	१
२.	संत कबीरदास	८
३.	बिहारी का सौन्दर्य चित्रण	१३
४.	बिहारी की काव्य कला	३३
५.	बिहारी सतसई : गागर में सागर	४२
६.	पद्मावत में प्रकृति चित्रण	५२
७.	भ्रमर गीत वागवैधग्दय या उपालंभ काव्य	६०
८.	भ्रमर गीत - ज्ञान पर भक्ति की विजय	६७
९.	पद्मावत का प्रबंध कौशल	७४
१०.	जायसी का बारहमासा	८१
११.	पद्मावत में सांस्कृतिक समन्वय	८७

